जैन भारती

जून, 2009 • वर्ष 57 • अंक 6 • वार्षिक रु. 200.00

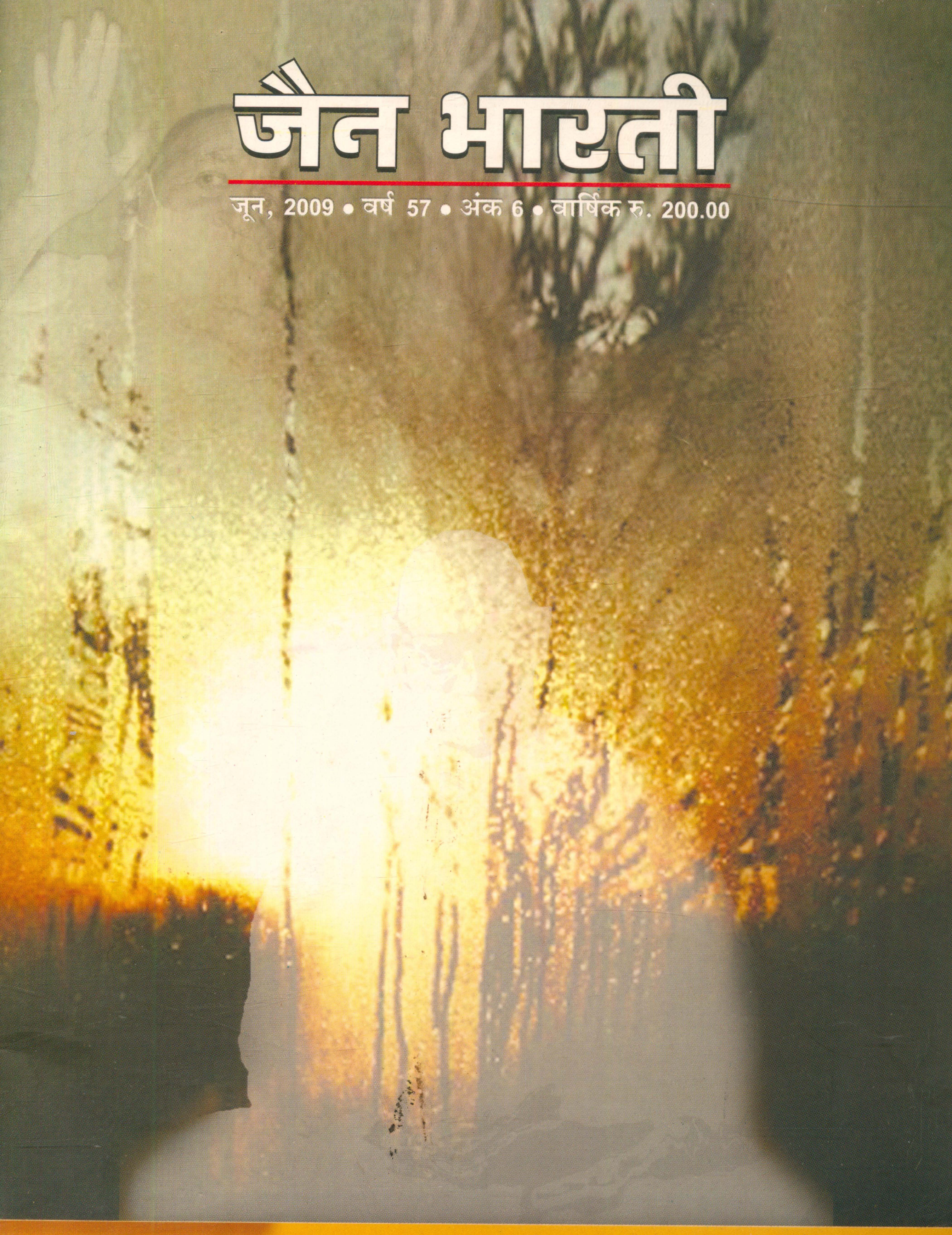

With best compliments from :

स्वरूप चन्द बरड़िया

दिल्ली-सरदारशहर

मो. : 09868099963

SHREE SADAN

12/3, East Punjabi Bag

New Delhi 110026

Phone Off. : 011-2592-7592
Resi. : 4540-5934/4246-0905
Fax : 4101-2191

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 • जून, 2009 • अंक 6

विमर्श

11
स्वामी विवेकानंद
आत्मा ही है एक अद्वितीय सत्ता

16
मुनि मदनकुमार
अनशन : दमन नहीं शोधन

अनुभूति

25
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
जीवन की व्याख्या : एक अनुचिंतन

26
मैं मानव जाति के भविष्य को देख रहा हूं

30
युवाचार्यश्री महाश्रमण
परिवर्तना : ज्ञान को स्मृति में रखने का सशक्त उपाय

33
डॉ. सोहनराज तातेड़
खुली आंख से सपना देखता एक युगद्रष्टा

37
साध्वी शुभप्रभा
आचार्यश्री महाप्रज्ञ : जहां बहि तहा अंतो

41
कहानी
सिद्धनाथ सागर
मोह

44
कविताएं
तीन कविताएं/तीन कवि

प्रसंग

7
शुभू पटवा
गुरु-शिष्य परंपरा

शीलन

47
समणी सत्यप्रज्ञा
प्रकृति की ऊर्जा बचेगी तो जीवन की ऊर्जा बनी रहेगी

51
साध्वी कनकरेखा
अणुव्रत : मानव बनने की आचार-संहिता

54
बालकथा
शत्रुघ्नलाल शुक्ल
गिरधरराव का विश्वासघात

•
आवरण
कमल श्रीमाली

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

यह सच्चा है या झूठा?

भगवान महावीर में जब छहों लेश्याएं थीं और आठों ही कर्म थे, तब उस छद्मस्थ अवस्था में भगवान ने लब्धि का प्रयोग किया। इस प्रमाद को मूर्ख व्यक्ति धर्म बतलाते हैं।

स्वामीजी ने जब इस गाथा की रचना की, भारमलजी स्वामी ने कहा—'छद्मस्थ चूका तिण समे'—इस पद को आप बदल दें। इस पद को लेकर लोग झगड़ा कर सकते हैं।

तब स्वामीजी बोले—यह पद सच्चा है या झूठा?

तब भारमलजी स्वामी बोले—है तो सच्चा।

तब स्वामीजी बोले—यदि यह सच्चा है तो फिर लोगों की क्या चिंता! न्याय-मार्ग पर चलने में कोई आपत्ति नहीं है।

बीच में बोलने की जरूरत ही क्या?

संवत 1853 की घटना है। स्वामीजी ने सोजत में चातुर्मास किया। उसके बाद विहार करते-करते मांढा में पधारे।

हेमजी स्वामी तब गृहस्थावस्था में थे। स्वामीजी के दर्शन करने सिरियारी से मांढा गांव में आए। पोल के चबूतरे पर स्वामीजी सो रहे थे और नीचे खाट डाल कर हेमजी स्वामी सो गए। उस समय स्वामीजी और साधु परस्पर साधु-साध्वियों को विभिन्न क्षेत्रों में भेजने की बात कर रहे थे—अमुक साधु को अमुक गांव भेजना और अमुक साधु को अमुक गांव भेजना। परंतु सिरियारी में किसी साधु या साध्वी को भेजने की बात नहीं की।

तब हेमजी स्वामी बोले—स्वामीनाथ! सिरियारी में किसी साधु-साध्वी को भेजने की बात ही नहीं की?

तब स्वामीजी ने उन्हें कठोर शब्दों में उलाहना दिया। आपने साधुओं से कहा—गृहस्थों के सुनते हुए ऐसी बात ही नहीं करनी चाहिए। हेमजी स्वामी की ओर अभिमुख होकर कहा—तुम्हें साधुओं की बातचीत के बीच में बोलने की जरूरत ही क्या? यह बात हेमजी स्वामी को बहुत कड़ी लगी। वे मौन साध कर सोते रहे।

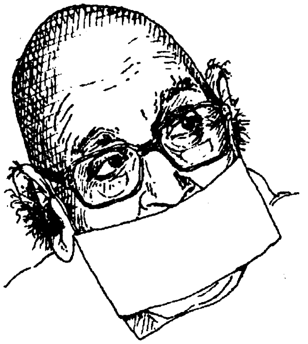

यदि हम धर्म के बारे में विस्तृत चर्चा से उपरत होकर विचार करें, तो उसके दो रूप हमारे सामने आते हैं—लोक-धर्म और अध्यात्म-धर्म। लोक-धर्म में सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक, शैक्षणिक और राष्ट्रीय—इन सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। लोक-विरुद्ध आचरण को छोड़ कर लौकिक दृष्टि से कोई भी काम किया जाए—उसे लोक-धर्म की सीमा के अंतर्गत लिया जा सकता है।

मैं जहां तक समझा हूं, धर्म के बारे में जितनी उलझनें हैं—लोक-धर्म को लेकर वे नहीं हैं। उलझन या विवाद का विषय है अध्यात्म-धर्म। जो अध्यात्म-धर्म विवाद को शांत करने के लिए है, चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए है और मोक्ष की आराधना के लिए है—वही विवादों के घेरे में खड़ा है। यह आश्चर्य की बात है।

अध्यात्म-धर्म के मुख्यतः तीन अंग हैं—संप्रदाय, अनुष्ठान और आचरण। समान आस्थाओं, विचारों और धर्मोपासना की विधियों के आधार पर संप्रदाय का जन्म होता है। जिसका जन्म होता है वह शाश्वत नहीं हो सकता और जो शाश्वत नहीं, उसे धर्म कैसे माना जा सकता है। मेरा यह चिंतन संप्रदाय की व्यर्थता बताने के लिए नहीं है। मैं संप्रदाय को उपयोगी मानता हूं। पर, धर्म को उससे बहुत ऊंचा मानता हूं। जो लोग धर्म को गौण समझ कर संप्रदाय को महत्त्व देते हैं, धर्म के आदर्शों को धर्मशास्त्रों तक सीमित रख कर उसकी पूजा करते हैं, किंतु उन आदर्शों को जीवन के साथ नहीं जोड़ते—उसको प्रज्ञावान कैसे माना जा सकता है?

धर्म संसार को शांतिदर्शन देने वाला है, पर उसे लेकर इतने संघर्ष हुए हैं, यह आश्चर्य की बात है। संभवतः हर धर्म का इतिहास रक्तरंजित मिलता है। ऐसे धर्म से किसी भी युग की प्रबुद्ध युवापीढ़ी प्रभावित नहीं हो सकती। वर्तमान युवापीढ़ी में भी यदि धार्मिक आस्था की कमी है, तो यह दोष उस पीढ़ी का नहीं, तथाकथित धर्म का है।

—आचार्यश्री तुलसी

जैन दर्शन का सिद्धांत आत्मवाद का सिद्धांत है। आत्म-प्राप्ति के लिए, आत्म-दर्शन के लिए, आत्म-साक्षात्कार के लिए साधना की अपेक्षा होती है और वह साधना है—राग-द्वेष से मुक्ति की साधना। जिस उपक्रम के द्वारा आदमी का राग-द्वेष शांत हो सके—चाहे स्वाध्याय से हो, ध्यान से हो, अनुप्रेक्षा से हो अथवा अन्य किसी तरीके से हो—वही रास्ता सबसे अच्छा मार्ग है। आदमी ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास करे और जो भी घटना सामने आए, उसे बिना राग-द्वेष के देखना सीखे।

जीवन में समस्याएं आ सकती हैं। समस्या का आना एक बात है और समस्या से दुखी बन जाना दूसरी बात है। महापुरुषों के जीवन में भी समस्याएं आ सकती हैं। गुरुदेव तुलसी को हमने निकटता से देखा। उनके जीवन में भी अनेक-अनेक समस्याएं आईं। गुरुदेव तुलसी तो उच्च कोटि के साधक थे, बड़े मनोबली व्यक्ति थे—वे समस्याओं से प्रायः अप्रभावित रहते हुए उनका समाधान खोजने का प्रयास करते थे। महापुरुष सक्षम होते हैं, साधना-संपन्न होते हैं। वे समस्याओं का समाधान खोज लेते हैं, उन्हें भोगते नहीं हैं। साधनाशील व्यक्ति भी समस्या को देखना सीखें और उनका हल निकालना सीखें, पर उसे भोगें नहीं। तभी वह साधना के क्षेत्र में विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

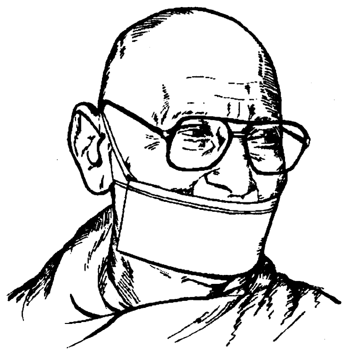

धन के बिना जीवन नहीं चल सकता, समाज नहीं चल सकता। पर, धन के प्रति दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? यह समझना जरूरी है। मैंने यह जो कपड़ा (कंबल) ओढ़ रखा है, क्या यह धन नहीं है? अर्थ का मतलब केवल पैसा ही नहीं होता, अर्थ का मतलब सिक्का ही नहीं है। अर्थ में मकान भी आ जाता है, कपड़ा भी आ जाता है और रोटी भी आ जाती है। ये सारे के सारे अर्थ के अंतर्गत ही आते हैं। पुस्तकें भी धन के अंतर्गत आती हैं। आप कल्पना करें कि सौ-पचास रुपये में हमारा कंबल आ जाता है—तो क्या यह अर्थ नहीं है? पुराने जमाने में तो वस्तु-विनिमय होता ही था। किसी के पास कपड़ा होता और किसी के पास अनाज होता। कपड़ा बनाने वाला कपड़ा दे आता और उससे अनाज ले आता। यह वस्तु का विनिमय चलता था। जब सिक्का कम था या आया ही नहीं था, उस समय वस्तु-विनिमय पर सारा काम-काज और व्यवहार चलता था।

हमारे पास ऐसी दुर्लभ पुस्तकें हैं, जिन्हें यदि बाजार में ले जाया जाए तो एक-एक पुस्तक के पचास-पचास हजार रुपये तक मिल सकते हैं। ऐसे सूक्ष्म और सुंदर लिखे हुए पन्ने हैं, ऐसे पुराने चित्र हैं कि यदि उन्हें बाजार में बेचा जाए तो शायद विदेशी लोग हजारों-हजारों रुपये देकर उन पन्नों और चित्रों को खरीद सकते हैं। तो क्या हमारे पास अर्थ नहीं है? अगर हम अपनी प्रतियों को बेचें तो लाखों रुपये प्राप्त कर सकते हैं। इतनी पूंजी हम लिए बैठे हैं, फिर भी आप लोग कहते हैं कि साधु अर्थ नहीं रखते। यह क्या है? इसका कारण क्या है? यह एक दृष्टिकोण है, जिसे हमें समझना है।

अर्थ किसे माना जाए, धन किसे माना जाए? अर्थ की एक अर्थशास्त्रीय परिभाषा होती है और एक धर्मशास्त्रीय परिभाषा होती है। अर्थशास्त्रीय परिभाषा से देखें तो हम पुस्तकों को नहीं कह सकते कि वह धन नहीं है। अगर हमारी पुस्तकें किसी पुरानी चीजों के विक्रेता के हाथ लग जाएं, तो वह निहाल हो जाए। परंतु हमारे पास होते हुए भी हम मानते हैं कि हमारे पास अर्थ नहीं है और आप भी कहते हैं कि 'महाराज' के पास अर्थ नहीं है, कोई पूंजी नहीं है, यह क्यों? धर्मशास्त्रीय परिभाषा यह है कि जिस वस्तु से हमारा ममत्व हट गया, हमने मात्र जीवनयापन की दृष्टि से वस्तु को स्वीकार किया, जिस वस्तु के पीछे केवल जीवन चलाने के सिवाय और हमारा कोई अन्य दृष्टिकोण नहीं है—वह वास्तव में अर्थ नहीं है, धन नहीं है—अपरिग्रह है और संग्रह है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

गुरु-शिष्य परंपरा

'समाज की जड़ें अतीत में होती हैं, वह वर्तमान में जीता है और भविष्य उसके लिए चिंता और प्रावधान का विषय होता है। परंपराएं अतीत को वर्तमान और वर्तमान को भविष्य से जोड़ती हैं। उनके माध्यम से सामाजिक जीवन को निरंतरता मिलती है और उसका स्वरूप निर्धारित होता है। परंपराएं हर समाज और उसके भिन्न समुदायों और समूहों की आत्म-छवि का अविभाज्य अंग होती हैं और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उनका दिशा-निर्देश करती हैं। परंपराओं का मूल्य केवल प्रतीकात्मक नहीं होता, उनसे महत्त्वपूर्ण प्रकार्य जुड़े होते हैं, वे समाज के समाकलन में सहायक होती हैं और उसे आस्था का आधार देकर जीवन के लक्ष्य और मूल्य निर्धारित करती हैं। दुनिया में शायद ही कोई ऐसा समाज हो, जो पूरी तरह अपनी परंपरा से कटा हो।' उपरोक्त कथन सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री स्व. श्यामाचरण दुबे का है और हम अपनी परंपरा को भी इस कथन के आधार पर नाप-परख सकते हैं। हम पाएंगे कि अपनी परंपरा को ठीक तरह से समझने के लिए यह कथन हमें काफी मदद दे सकता है। इसी परिप्रेक्ष्य में हम इस 'प्रसंग' में 'गुरु-शिष्य परंपरा' को समझने की किंचित कोशिश करते हैं।

गुरु-शिष्य परंपरा की बात आते ही हमारे सामने कई चरित्र-नायक और उनके कृतित्व उभर आते हैं। महाभारत काल के द्रोणाचार्य, अर्जुन और एकलव्य के चरित्रों से लेकर रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद के चेहरे भी चित्र-लिखित हो उठते हैं। इन्हीं छवियों में एक छवि; जो अपने समय को अनेक रूपों में प्रभावित करती है और जैसा कि श्यामाचरण दुबे का कथन है कि—'परंपराएं अतीत को वर्तमान और वर्तमान को भविष्य से जोड़ती हैं'—चर्चित इन छवियों पर यह बात अक्षरशः अंकित होती है। हमारे अपने समय की ये छवियां हैं—आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की। इन छवियों को लेकर एक बहुश्रुत कथन का स्मरण हो रहा है—'महाप्रज्ञ में तुलसी को देखो और तुलसी में महाप्रज्ञ को।' एक तरह से दो शरीर और एक आत्मा का-सा रूप इस कथन में प्रकट होता है। कोई अधिक नहीं, तेरह साल पहले 23 जून, 1997 (आषाढ़ कृष्णा तृतीया, संवत 2054) के दिन के 11.25 बजे की घटना है, जब आचार्यश्री तुलसी ने अपनी पार्थिव देह छोड़ी थी। इसी आषाढ़ कृष्णा तृतीया (10 जून) को हम उनके

महाप्रयाण का पुण्य स्मरण करेंगे। गुरु-शिष्य परंपरा का यह एक अनूठा संयोग ही है कि इसी आषाढ़ मास में हम उनके शिष्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का पावन जन्म-दिवस भी मना रहे होंगे। आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी (21 जून) आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का नब्बेवां जन्म दिन है। आषाढ़ मास में ये दो अवसर आते हैं और गुरु-शिष्य परंपरा के इस एक-रूप से हम परिचित हो जाते हैं। यह निरी स्थूल बात कही जा सकती है, पर इसे हम संयोग भर ही मानें और यही भी कि गुरु-शिष्य परंपरा का यह संयोग लौकिक महत्त्व का तो है ही। पर, यहीं पर हम ठहर नहीं सकते। समाजशास्त्री दुबेजी के पूरे कथन को यदि हम सम्मुख रखें तो उनके हर वाक्य से निकलने वाला निष्कर्ष आचार्यश्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की छवि में स्पष्ट और सजीव रूप से प्रकट होता दिखाई देता है। परंपरा का ऐसा संयोग शायद दुर्लभ है।

गुरु-शिष्य परंपरा की इस दुर्लभ छवि के फलक भी अनेक हैं। इस 'प्रसंग' में इनके विस्तार में जाने का यद्यपि अवकाश नहीं है, पर अतीत को वर्तमान और वर्तमान को भविष्य से जोड़ने वाली बात पर हम गौर करें तो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व को त्रिआयामी कहा जा सकता है। वे तेरापंथ धर्मसंघ की ढाई शती की परंपरा के अवगाहक हैं, क्योंकि वे तेरापंथ के वर्तमान अधिष्ठाता हैं। उनके दीक्षा-गुरु तेरापंथ के आठवें अधिष्ठाता आचार्यश्री कालूगणि हैं और उनके शिक्षा-गुरु हैं—आचार्यश्री तुलसी। इस तरह परंपरा के ये तीन आयाम—जो मील के पत्थर की मानिंद हैं—एक साथ आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के व्यक्तित्व और कृतित्व में परिलक्षित होते हैं। कोई ऐसा अवसर नहीं कि ये त्रिआयाम उनके तईं विस्मृत हुए हों। अलबत्ता कई बार यह आभास अवश्य होता है कि इनके स्मरण भर से वे एक दिव्य ऊर्जा से सराबोर हो उठते हैं, जो अन्यथा शायद उपलब्ध न हो।

समाजशास्त्री दुबेजी के कथनानुसार परंपराओं का मूल्य केवल प्रतीकात्मक नहीं होता। हम पाते हैं कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी इसे इसी तरह मानते हैं। तभी वे अपने समय व समाज के समाकलन में परंपरा को एक सहायक तत्त्व मानते हैं। इसी आधार पर उसका वे समाकलन भी करते हैं। यही वजह है कि अपने जीवन के लक्ष्य व मूल्यों के निर्धारण में उनकी आस्था एक मजबूत आधार बनी रहती है। निश्चय ही आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की आस्था का यह त्रिआयामी रूप न सतही है, न छिछला और न ही दिखावटी। ठोस संकल्पों और दृढ़ रीति-नीति पर अवलंबित उनकी आस्था कहीं भी जड़ीभूत नहीं है। वे अपनी आस्था को बुझी हुई ज्योति नहीं मानते हैं। उनकी आस्था में आनंद का सागर हिलोरें भर रहा है, उनकी आस्था में शक्ति का स्रोत सतत प्रवाही है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि मैं एक परंपरा का अनुगमन करता हूं, साथ ही वे यह भी कहते हैं कि जो दृष्टि मुझे प्राप्त है—उसमें अतीत और वर्तमान का वियोग नहीं, योग है। इसीलिए वे अपने गुरु के महाप्रयाण पर किंचित भी विक्षिप्त नहीं होते, बल्कि अधिक सचेत और गहन-गंभीर होकर करणीय के लिए संकल्पबद्ध होते हैं और कहते हैं—'महापुरुष के इंगित को गंभीरता के साथ पकड़ना सीखें।' गुरु-शिष्य परंपरा का ऐसा समावेशित रूप अन्यत्र मिल पाना दुर्लभ है।

इसीलिए सामान्यजन के नाते हमारे लिए इनका स्मरण करना समीचीन है और एक अवसर भी कि इस परंपरा के श्रेष्ठ और सबल संवाहकों का हम पुण्य और पावन स्मरण कर उनके दिव्य आलोक से अपने व अपने समाज को आलोकित करने की कारगर भूमिका अदा करने का संकल्प करें। आचार्यश्री तुलसी के महाप्रयाण (10 जून) पर उनका पुण्य स्मरण और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के जन्मोत्सव (21 जून) पर उनका पावन स्मरण न केवल हमें अपनी परंपरा में झांकने का अवसर देता है, इस समाकलन का अवसर भी देता है कि हम गतिशील रहें, जड़ीभूत न हो जाएं।

—शुभू पटवा

[गंगतोक से हमारे एक सुधि पाठक ने बताया कि **जैन भारती** के मई अंक में इसी **प्रसंग** में एक चूक रह गई। **प्रसंग** के प्रथम पैरा की सतरहवीं पंक्ति में '…अस्सी लाख लोगों की आय मात्र बीस रुपए है।'—उल्लेख हुआ है। **जैन भारती** में ही हमारे **प्रसंग** में इससे पूर्व अस्सी करोड़ का उल्लेख हमने ही किया है। दरअस्ल भारत सरकार की 'डॉ. अर्जुन सेनगुप्त आयोग' की रिपोर्ट में ही कहा गया है कि भारत की 83.6 करोड़ जनता प्रतिदिन बीस रुपए में अपना गुजारा करती है। मई 09 के **जैन भारती** अंक में **प्रसंग** में उल्लिखित अस्सी लाख को पाठकगण अस्सी करोड़ पढ़ें। इस चूक के लिए हमें खेद है और गंगतोक के हमारे मान्य पाठक की सजगता के लिए उनका साधुवाद है— **सं.**]

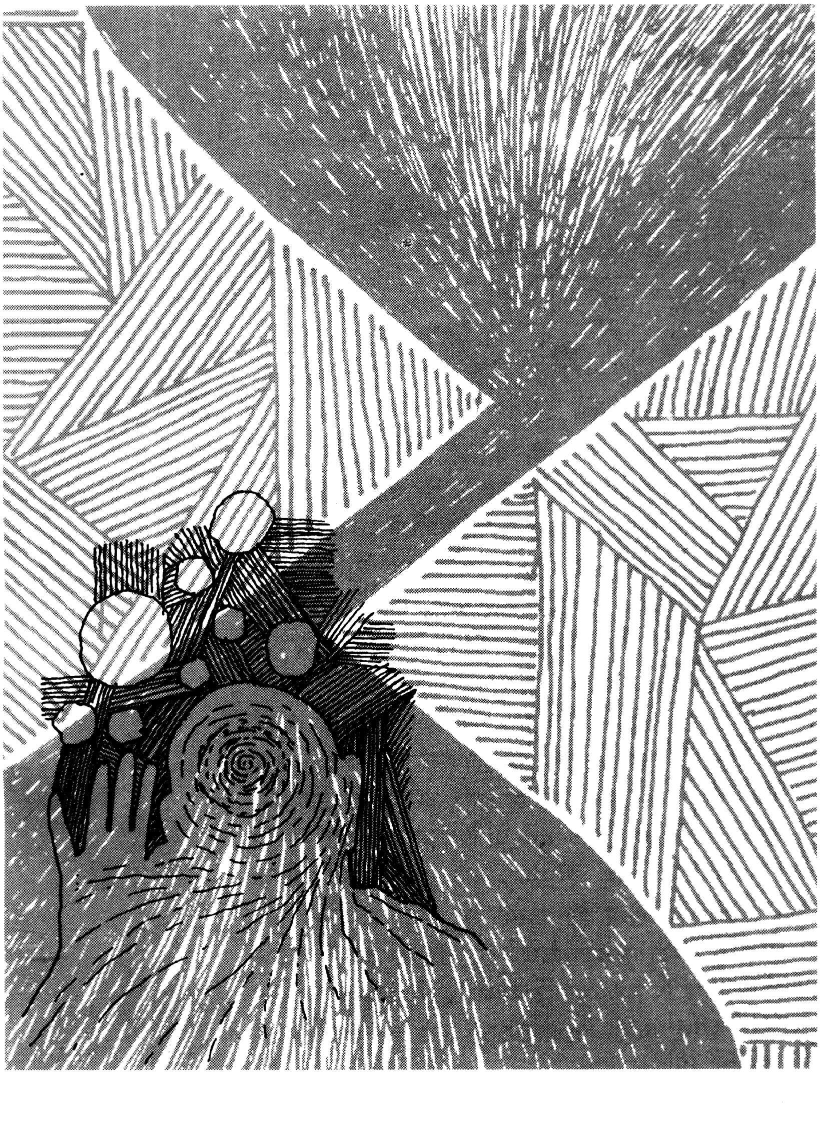

विमर्श

परंपराओं की प्रासंगिकता और उनका महत्त्व असंदिग्ध है। पर, उन्हें एक सीमा से अधिक महिमा-मंडित करना भी उचित नहीं है। उनकी भी अपनी सीमाएं होती हैं। अस्पृश्यता, एक बड़े वर्ग की संरचनात्मक दास-स्थिति, स्त्री का उत्पीड़न (विशेषकर सती और देवदासी प्रथाएं या स्त्री-भ्रूण हत्या) आदि प्रथाओं को परंपरा के नाम पर भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। उन पर धार्मिक और दार्शनिक मुल्लमा भी उनके अंतर-निहित अन्याय को झुठला नहीं सकता। न्यस्त स्वार्थ परंपरा के समर्थक बन जाते हैं। तीसरा खतरा परंपराओं के राजनीतिकरण का है, जो सच्चे इतिहास-बोध और दूरदर्शी भविष्य-बोध के बिना समाज को लक्ष्य-भ्रष्ट करता है। परंपरा के व्याख्याकार कौन हैं? उसका निर्वाचन कौन करते हैं? कैसे और क्यों? क्या इनके द्वारा संस्कृति की किसी एक धारा का वर्चस्व स्थापित किया जाता है? परंपराओं के सह-अस्तित्व के लिए क्या कोई कल्पनाशील प्रयत्न किए जाते हैं? असहमति, विरोध और सुधार की परंपराओं का मूल्यांकन किस तरह किया जाता है? इन प्रश्नों के समाधान-कारक उत्तरों पर मानव की नियति आकार लेती है।

—श्यामाचरण दुबे

आत्मा ही है एक अद्वितीय सत्ता

स्वामी विवेकानंद

मैं एक सुंदर सरोवर की ओर बढ़ा, मेरा पहुंचना था कि वह लुप्त हो गया। कहीं पता नहीं। अब तो मैं समझ गया कि यही मृगतृष्णा है, जिसके विषय में मैं पहले पढ़ चुका था। उसी समय मुझे ज्ञान पड़ा कि मैं महीने भर इसी सिरोह के दृश्य को देखता रहा, पर जानता न था। दूसरे दिन मैं फिर आगे चला, फिर भी वही सरोवर सामने। तब मुझे यह प्रतीत हो गया कि यह मृगतृष्णा व सिरोह है, सच्चा सरोवर नहीं है। यही दशा इस विश्व की है, हम संसार की इस मृगतृष्णा के पीछे नित्य दौड़ते रहते हैं और यह नहीं समझते कि यह यथार्थ नहीं है। एक दिन यह हट जाएगी, पर फिर वही बात सामने आएगी, शरीर तो पूर्व-कर्म के अधीन रहेगा ही और मृगतृष्णा पुनः-पुनः देख पड़ती रहेगी। जब तक हम कर्म के बंधन में हैं, तब तक यह फिर-फिर आती रहेगी। स्त्री-पुरुष, वृक्ष-वनस्पति, हमारे अभिनिवेश और धर्म व कर्तव्य—सब रहेंगे, पर उनका वह प्रभाव न रहेगा। नए ज्ञान के प्रभाव से कर्म का बल टूट जाएगा, इसका विषय जाता रहेगा। इसका भाव बदल जाता है और साथ ही यह ज्ञान हो जाता है कि सत्य क्या है और मृगतृष्णा क्या है, इसका हमें विवेक उत्पन्न हो गया है।

स्वर्ग, नरक, जन्म-मरण आदि को क्या मानते हैं? मैं एक पुस्तक पढ़ रहा हूं, पढ़-पढ़ के उसके पन्ने उलटता जाता हूं। एक पन्ना पढ़ लिया, उसे उलट दिया। दूसरा पढ़ लिया, उसे उलटा—अब बदला कौन? कौन आया और कौन गया? मैं तो ज्यों का त्यों बैठा हूं, उलटे गए तो पुस्तक के पन्ने। इसी प्रकार जीव के सामने सारा विश्व या प्रकृति पुस्तक रूप है। वह अध्याय के अध्याय पढ़ता है, पन्ने उलटता जाता है, प्रत्येक बार एक नया दृश्य सामने आता है। एक देख लिया, उलट दिया। दूसरा देखा, उसे उलटा। नए-नए दृश्य सामने आते हैं, पर देखने वाला जीव वही है। प्रकृति ही परिणाम को प्राप्त होती है, जीवात्मा नहीं। वह तो अविनाशी, नित्य और निर्विकार है। जन्म-मरण प्रकृति में होते हैं। आप में नहीं होते, अतः यह सब भ्रम मात्र है। जैसे हम रेलगाड़ी में चढ़ते हैं, तो हमें भ्रम से खेत भागते दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही हमें जन्म और मरण का भ्रममात्र दिखाई पड़ता है। जब मनुष्य के मन में किसी विशेष वृत्ति का उदय रहता है। जब उसे—यह पृथ्वी है, यह सूर्य है, यह चंद्र है, ये तारे हैं—ऐसा भासमान होता है और जिन लोगों के चित्त में उसी वृत्ति का उदय रहता है—उन्हें वैसा ही भासता है। आपके और हमारे बीच में करोड़ों ऐसे सत्त्व हो सकते हैं, जो सत्ता की भिन्न भूमिकाओं में हों, जो न हमें देखते हों और न हम उन्हें। हमें वे ही

दिखाई पड़ते हैं, जिनकी वृत्ति और भूमि में हमसे समानता है। उन्हीं बाजों से राग निकलता है, जो समान लय के हों। यदि कंप की अवस्था—जिसे हम मानव कंप कह सकते हैं—बदल जाए तो मनुष्य दिखाई नहीं पड़ेंगे, मनुष्य-विश्व के चिह्न उड़ जाएंगे और कुछ और ही दिखाई पड़ेगा—देवविश्व या असुरविश्व।

इसी विश्व को हम मानव भूमिका से पृथ्वी, सूर्य, चंद्रादि के रूप में देखते हैं। यही विश्व पापियों की भूमिका से यातनागार दिखाई पड़ता है। जिन्हें स्वर्ग की कामना है, उन्हें यही विश्व स्वर्ग रूप दिखाई पड़ता है। जिन लोगों के ये भाव हैं कि वे ईश्वर के पास जाएंगे, वह सिंहासन पर विराजमान होगा और वे सदा उसके सामने खड़े-खड़े स्तुतियां करेंगे—शरीर छोड़ने पर उन्हें वैसा ही स्वप्न देख पड़ेगा; यही विश्व उनके लिए स्वर्ग रूप धारण कर लेगा और उन्हें इसी में उड़ते देव और सिंहासनारूढ़ ईश्वर दिखाई देगा। ये सब स्वर्ग मनुष्यों की ही कल्पना मात्र हैं। ये लोक, देव, असुर, पुनर्जन्म, आवागमन—सब पुराण की बातें हैं और वैसे ही मानव जीवन भी पौराणिक कल्पनामात्र है। मनुष्य सदा से ये बड़ी भूल करते आए हैं कि वे यह समझते हैं कि यही जीवन सत्य है। जब औरों को पुराणों की कल्पना कहते हैं तो वे उसे ठीक मान लेते हैं, पर वे अपनी दशा को वैसी ही कल्पना मानने पर कभी उद्यत नहीं होते। सब-कुछ जो दिखाई पड़ रहा है, पुराणों की कल्पना मात्र-सा है और सबसे बड़ी मिथ्या बात है कि हम शरीर हैं, जो न हम कभी थे और न हो सकते हैं। सब मिथ्याओं से बड़ी मिथ्या तो यह है कि हम मनुष्य हैं; हम तो विशेश्वर हैं। ईश्वर को पूजने में हम अपनी ही गुप्त आत्मा की पूजा करते आए हैं। सबसे निकृष्ट मिथ्या बात जो आप अपने से कहते हैं, वह यह है कि हम पापी होकर जन्मे हैं, हम बुराई लेकर जन्मे हैं। पापी वही है जो दूसरों में पापी की भावना रखता है। मान लीजिए कि एक अनजान बालक है। आप मेज पर अशर्फियों की एक थैली डाल दीजिए। एक चोर आए और सब थैली लेकर चलता बने। बालक के लिए सब बराबर है। जब भीतर चोर नहीं, तो बाहर भी नहीं है। पापी और दुष्टों को दुष्टता ही दुष्टता नजर आती है, पर पुण्यात्मा को कहीं नहीं। अतः अधमों के लिए संसार नरक रूप है, मध्यम कोटि वालों के लिए स्वर्गरूप है और परिपक्कषाय के लिए यह ब्रह्मरूप है, उन्हें ब्रह्म ही देख पड़ता है। उस समय ही आंखों का पर्दा हट जाता है। जब मनुष्य धूतपाप और शुद्ध हो जाता है, उसके सारे दृश्य बदल जाते हैं। जो दुःस्वप्न उसे असंख्य वर्षों से दुख दे रहे थे, जाते रहते हैं और वही जो अपने को मनुष्य, देवता या राक्षस समझ रहा था, जो अपने नरक को स्वर्ग और मर्त्यलोक आदि में रहता समझता था—अब अपने को सर्वव्यापक, काल का भी काल और काल-रहित पाता है; वह अपने को स्वर्ग का अधिष्ठान जानता है, स्वर्गस्थ नहीं। सारे देवताओं को, जिन्हें मनुष्य पूजते हैं, वह आत्मगत देखता है और अपने को किसी एक देवता के रूप में नहीं देखता। वह देवता, राक्षस, मनुष्य, जंगम, स्थावर, कंकड़-पत्थर, सबका रचने वाला था। अब वह अपने रूप को देखता है, जो स्वर्ग से भी ऊंचा, विश्व से भी पूर्ण, काल से भी अनंत और वायु से भी व्यापक है। ऐसा असंग होकर ही मनुष्य निर्भय और मुक्त हो जाता है। तब सब भ्रम हट जाते हैं, सारे दुख दूर हो जाते हैं, सब भय नाश हो जाते हैं, जन्म और उसके साथ मरण छूट जाता है, दुख और उसी के साथ सुख भी रफूचक्कर हो जाते हैं, पृथ्वी और उसी के साथ स्वर्ग का लोप हो जाता है, शरीर के साथ के मन का भी तिरोभाव हो जाता है। ऐसे मनुष्य के लिए मानों सारा विश्व लुप्त हो जाता है। यह जिज्ञासा, यह गति और यह शक्तियों की निरंतर चेष्टाएं सदा के लिए मिट जाती हैं। जो-कुछ द्रव्य या शक्ति के रूप में, प्रकृति के प्रयास के रूप में या प्रकृति के रूप में—स्वर्ग, पृथ्वी, स्थावर, जंगम, मनुष्य, देवता आदि के रूप में व्यक्त हो रहे थे, वे सब अब उसे अनंत, अविच्छिन्न और निर्विकार सत्ता दिखाई पड़ते हैं और ज्ञाता अपने को उस सत्ता में एकीभूत पाता है। जैसे वर्ण-वर्ण के मेघ आकाश में दिखाई पड़ते हैं और क्षणमात्र में विलुप्त हो जाते हैं, वैसे ही इस आत्मा के सामने पृथ्वी, स्वर्ग, चंद्रलोक, देवलोक, सुख और दुख के दृश्य आते हैं और चले जाते हैं और वही अनंत, नीला अविनाशी आकाश ज्यों का त्यों बना रहता है। आकाश कभी बदलता नहीं है, केवल मेघ आते-जाते रहते हैं। यह भ्रम है कि आकाश बदलता है। यह समझना भ्रम है कि हम अशुद्ध हैं, परिमित हैं और विलग हैं। आत्मा ही एक अद्वितीय सत्ता है।

अब दो प्रश्न उठते हैं। एक यह है कि क्या इस बात का साक्षात करना संभव है? यह मत व दार्शनिक सिद्धांत तो है, पर क्या इसका साक्षात करना भी संभव है? उत्तर है कि संभव है। इस संसार में ऐसे लोग विद्यमान हैं, जिनके भ्रम सदा के लिए मिट गए हैं। तो क्या वे लोग ब्रह्म-साक्षात्कार होते ही मर जाते हैं? इतने शीघ्र नहीं, जितना कि हम समझते हैं। दो पहिए एक धुरे में लगे लुढ़के जा रहे हैं।

यदि हम एक पहिया पकड़ लें और धुरी को कुल्हाड़ी से काट कर गिरा दें तो वह पहिया जिसे हम पकड़े हैं—रुक जाएगा, किंतु दूसरे पहिए में पूर्व की शक्ति बनी है, वह कुछ दूर चलेगा और फिर गिर पड़ेगा। यह शुद्ध और पूर्ण सत्ता, आत्मा—एक पहिया है और बाह्य भ्रम, जो शरीर और मन का बना हुआ है—दूसरा पहिया है और दोनों कर्मरूप धुरी से जुड़े हुए हैं। ज्ञान कुल्हाड़ी है जिससे दोनों काट कर अलग-अलग कर दिए जाते हैं। आत्मा का पहिया तो रुक जाएगा—वह आवागमन, जन्म-मरण के विचार को त्याग देगा। उसे ज्ञान हो जाता है कि इच्छा और आकांक्षा प्रकृति के धर्म हैं, वह स्वयं पूर्ण और इच्छा से रहित निरीह है। पर, दूसरे पहिए पर, जो मन और शरीर का है—पूर्व कर्म का प्रभाव बना रहता है। अतः वह तब तक जीता रहता है, जब तक कि पूर्वजन्म के कर्मों का क्षय नहीं हो जाता। जब तक पूर्व जन्म के कर्म का भोग रहता है, वह जीता है और भोग हो चुकने पर शरीर और मन के बंधन छूट कर आत्मा मुक्त हो जाती है। फिर आवागमन नहीं रह जाता है, न वह स्वर्ग जाती और वहां से लौटती है, न ब्रह्मलोक न किसी और लोक-लोकांतर में आती-जाती है, वह कहां आए, कहां जाए? वह मनुष्य, जो इसी जन्म में उस दशा को प्राप्त हो जाता है, जिसके लिए क्षणमात्र के लिए भी संसार का साधारण दृश्य बदल जाता है और इसका यथार्थ रूप दिखाई देता है—उसे जीवनमुक्त कहते हैं।

एक बार की बात है कि मैं पश्चिमी भारत में भारत के सागर के किनारे मरुभूमि में जा रहा था। कई दिन तक मरुभूमि में पैदल चलना पड़ा। वहां मैंने प्रतिदिन सुंदर झीलें देखीं। जिनके किनारे चारों ओर वृक्ष देख पड़ते थे और उनकी छाया स्वच्छ सरोवर के जल में हिलती दिखाई पड़ती थीं। मैंने कहा—कैसी उलटी बात है, ऐसे अच्छे प्रदेश को लोग मरुस्थल कहते हैं। इस प्रकार एक महीना भर मैं उस प्रदेश में चलता रहा और जब देखता तो सामने वही दृश्य दिखाई पड़ता—सुंदर स्वच्छ जल-पूर्ण सरोवर और किनारे-किनारे हरे-भरे वृक्ष। एक दिन मुझे प्यास लगी, पानी की आवश्यकता पड़ी। मैं एक सुंदर सरोवर की ओर बढ़ा, मेरा पहुंचना था कि वह लुप्त हो गया। कहीं पता नहीं। अब तो मैं समझ गया कि यही मृगतृष्णा है, जिसके विषय में मैं पहले पढ़ चुका था। उसी समय मुझे जान पड़ा कि मैं महीने भर इसी सिरोह के दृश्य को देखता रहा, पर जानता न था। दूसरे दिन मैं फिर आगे चला, फिर भी वही सरोवर सामने। तब मुझे यह प्रतीत हो गया कि यह मृगतृष्णा व सिरोह है, सच्चा सरोवर नहीं है। यही दशा इस विश्व की है, हम संसार की इस मृगतृष्णा के पीछे नित्य दौड़ते रहते हैं और यह नहीं समझते कि यह यथार्थ नहीं है। एक दिन यह हट जाएगी, पर फिर वही बात सामने आएगी, शरीर तो पूर्व-कर्म के अधीन रहेगा ही और मृगतृष्णा पुनः-पुनः देख पड़ती रहेगी। जब तक हम कर्म के बंधन में हैं, तब तक यह फिर-फिर आती रहेगी। स्त्री-पुरुष, वृक्ष-वनस्पति, हमारे अभिनिवेश और धर्म व कर्तव्य—सब रहेंगे, पर उनका वह प्रभाव न रहेगा। नए ज्ञान के प्रभाव से कर्म का बल टूट जाएगा, इसका विषय जाता रहेगा। इसका भाव बदल जाता है और साथ ही यह ज्ञान हो जाता है कि सत्य क्या है और मृगतृष्णा क्या है, इसका हमें विवेक उत्पन्न हो गया है।

यह संसार तब हमारे लेखे वैसा नहीं रह जाएगा, जैसा पहले था। इसमें एक भय भी है कि सब देशों में लोग इस दर्शन को लेकर कहने लग जाएंगे कि—'मैं तो पाप और पुण्य से परे हूं। किसी धर्मशास्त्र का मुझ पर बंधन नहीं है, मैं जो चाहे सो कर सकता हूं।' आप को इस देश में कितने मूर्ख आज भी यह कहते मिलेंगे—'मैं बद्ध नहीं हूं। मैं ब्रह्म हूं। मुझे जो मन में आए करने दो।' यह ठीक नहीं है, इसमें संदेह नहीं है कि इतना तो ठीक है कि आत्मा सारे नियमों से परे है। उस पर भौतिक, मानसिक, धार्मिक—कोई बंधन नहीं है। बंधन तो नियम में होने ही को कहते हैं। नियम से छूटना ही मोक्ष है। यह भी ठीक है कि मनुष्य का स्वभाव ही मुक्त है, वही इसका स्वरूप है, वही उसका सत्य-मुक्त स्वभाव इस प्रकृति की आड़ से लौकिक स्वतंत्रता के रूप में अपना प्रकाश फेंकता है। आपको अपने जीवन में प्रतिक्षण यह जान पड़ता है कि आप स्वतंत्र हैं। हम जब तक अपने को स्वतंत्र न समझ लें, हम न जी सकते हैं, न बातें कर सकते हैं, न सांस ले सकते हैं। पर, इसके साथ कुछ विचार से यह प्रकट होता है कि हम दूसरे के हाथ की कठपुतली हैं, स्वतंत्र तो नहीं हैं। सच्ची बात क्या है? क्या यह स्वतंत्रता का भाव मिथ्या भ्रम है? एक पक्ष वालों का विचार है कि यह स्वतंत्रता भ्रममात्र की है। दूसरे पक्ष वाले कहते हैं कि बंधन की बात ही भ्रम है। इसका कारण क्या है? बात यह है कि जीवात्मा केवल मुक्त स्वभाव है, पर जब वह माया में ग्रस्त होकर संसार, नाम-रूप की उपाधि को धारण करती है तो वह बद्ध हो जाती है। स्वेच्छा का शब्द ही अचरितार्थ है। इच्छा में कभी स्वतंत्रता हो नहीं सकती। यह संभव ही कैसे है? जीवात्मा के बंधन में आने पर ही तो उसमें इच्छा

उत्पन्न होती है। वह पहले कहां थी? मनुष्य की इच्छा बद्ध है। पर, उस इच्छा का मूल नित्यमुक्त है। अतः बद्धदशा में भी, जिसे हम मनुष्ययोनि, देवयोनि, स्वर्ग या पृथ्वी पर जन्म की दशा कहते हैं, हमें उसी अपनी स्वतंत्रता का स्मरण बना रहा है—जो हमारा स्वरूप और स्वभाव है। जानकर या अनजान में हम उसी के लिए सारा प्रयास कर रहे हैं। जब मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है तो वह किसी नियम के बंधन में कैसे आ सकता है? इस विश्व का कोई नियम उसे बंधन में नहीं रख सकता है, क्योंकि यह विश्व तो स्वयं उसी का है।

वही सारा विश्व है चाहे उसे सारा विश्व मानें या यों कहें कि उसके लिए विश्व ही नहीं है। भला तब जाति, देशादि के समान तुच्छ विचार उसे कैसे बांध सकते हैं? यह वह कैसे कह सकता है कि मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, मैं बालक हूं? क्या ये मिथ्या नहीं हैं? वह उन्हें मिथ्या समझता है। यह वह कैसे कह सकता है कि ये पुरुष के अधिकार हैं और ये स्त्री के अधिकार हैं? किसी का कोई अधिकार नहीं, कोई अलग तो है ही नहीं। न वहां पुरुष है, न स्त्री है। आत्मा अलिंग और नित्यशुद्ध है। यह कहना कि मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, मैं इस देश का हूं, मैं उस देश का हूं—मिथ्या है। सारा संसार अपना ही देश है, सारा विश्व अपना ही है क्योंकि वही तो मेरा शरीर है जो मुझे आवृत किए हुए है। फिर भी हमें इस संसार में ऐसे लोग मिलते हैं जो इस सिद्धांत को मानने के लिए तो तैयार हैं, पर ऐसे कर्म करते हैं जो बड़े ही घृणित कहे जाने योग्य हैं। यदि उनसे पूछिए कि आप यह काम क्यों करते हैं, तो वे कहते हैं कि आपको भ्रम से ऐसा जान पड़ता है, हम तो कोई बुरा काम कर ही नहीं सकते। अब ऐसे लोगों की परख क्या है?

वह यह है। इसमें संदेह नहीं कि भला और बुरा, दोनों आत्मा की अन्योन्याश्रित अभिव्यंजनाएं हैं, पर अशुभ कर्म मनुष्य की आत्मा का बाह्य आवरण और शुभ कर्म आंतरिक और समीपतर आवरण है। जब तक अशुभ कर्म का आवरण दूर नहीं होता, शुभ कर्म का आवरण प्रकट नहीं होता है और जब तक दोनों शुभाशुभ आवरणों का क्षय न हो, आत्मा का रूप स्वच्छ दिखाई नहीं पड़ सकता। जब कोई आत्मा तक पहुंच गया, तब क्या हटाना रह जाता है? किसका ध्वंस करना शेष रहता है? केवल थोड़े से पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कार मात्र का, जो शुभ कर्मों ही का होता है। जब तक पूर्व के पाप कर्मों का भोग नहीं हो जाता, पहले के मलों का क्षय नहीं हो जाता, वे बिल्कुल भस्म नहीं हो जाते, तब तक कोई सत्य को न साक्षात कर सकता है, न उसे देख ही सकता है। जो मनुष्य आत्मा को प्राप्त कर लेता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है—उसमें केवल अच्छे पूर्वजन्म के संचित कर्म ही बच रहते हैं। ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष जब तक जीवित रहता है, निरंतर अच्छे काम ही करता रहता है, सबके लिए हितकर वचन कहता है, हाथों से परोपकार करता है, मन से सबके लिए शुभचिंतन करता रहता है। उसकी उपस्थिति, जहां वह रहता है—सबके लिए कल्याणकर रहती है। वह स्वयं कल्याण का रूप है। ऐसा पुरुष अपने दर्शन मात्र से महामलिन दुष्टात्मा को सज्जन और महात्मा बना सकता है। यदि वह कुछ न भी कहे तो उसकी उपस्थिति ही सबके लिए कल्याण का कारण है। क्या ऐसा पुरुष कोई बुराई कर सकता है; क्या उससे पाप कर्म हो सकते हैं? आप स्मरण रखिए कि साक्षात करने और बातें बनाने में सुमेरु-कुमेरु का अंतर है, आकाश पाताल का अंतर है। मूर्ख मनुष्य बातें कर सकता है; तोते भी बकवाद कर सकते हैं, अतएव बकना और बात है और साक्षात करना और बात है। दर्शन और सिद्धांत, तर्क और ग्रंथ, विचार और मंदिर और संप्रदाय इत्यादि सब अपने-अपने ढंग पर अच्छे हैं; पर साक्षात्कार होने पर ये सब बातें जाती रहती हैं। जैसे नकशे व मानचित्र बहुत अच्छे हैं, पर जब आप किसी देश को देख लेते हैं और फिर मानचित्र को देखते हैं तो कितना अंतर दिखाई पड़ता है! अतः जो लोग सत्य का साक्षात कर लेते हैं, उन्हें तर्क की युक्ति की अपेक्षा नहीं रहती। उन्हें सत्य के स्पष्टीकरण के लिए किसी तर्कयुक्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती। मूर्तिमान सत्य उनके जीवन का जीवन है और उनके लिए बहुत ही स्पष्ट प्रतीत होता है। वेदांत कहता है—उन्हें सब 'हस्तामलक' हो जाता है और वे सबकुछ स्पष्ट देखते हैं। अतः जो सत्य को साक्षात कर लेते हैं, उन्हें आत्मा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनसे वर्षों तर्क करते रहें, पर वे आप पर हंसेंगे। वे उसे बच्चों की बातें समझेंगे और आपके बकने पर ध्यान न देंगे। उन्हें सत्य का साक्षात हो गया है और उनकी तृप्ति हो गई है। मान लीजिए आपने किसी देश को देखा है, अब कोई आकर आपसे तर्क और वाद करे कि वह देश है ही नहीं। वह तर्क करता रहे, वर्षों बका करे, पर आपके विचार में वह पागल है और पागलखाने जाने योग्य है। अतः आत्मज्ञानी कहते हैं कि संसार की सारी बकवाद कि यह धर्म अच्छा है, वह धर्म अच्छा है, व्यर्थ है, पर

दरअस्ल धर्म का सार आत्मज्ञान है। धर्म का साक्षात्कार हो सकता है। प्रश्न है—आप साक्षात्कार करने को उद्यत हैं? आपको इसकी आवश्यकता है? आप यदि चाहें तो इसका साक्षात कर सकते हैं और साक्षात करने पर ही आप सच्चे धार्मिक हो सकेंगे। जब तक साक्षात्कार न कर लें, आप में और नास्तिक में भेद क्या है? नास्तिक तो सच्चे हैं, पर वह मनुष्य जो धर्म की डोंडी पीटता है और धर्म का साक्षात्कार नहीं करता—झूठा है।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि साक्षात्कार के अनंतर होता क्या है? मान लीजिए कि हमने यह साक्षात कर लिया कि विश्व में एक ही सत्ता है और हम ही वह अनंत सत्ता हैं, मान लीजिए कि हमें उस विश्वव्यापी सत्ता का बोध हो गया और हम यह जान गए कि संसार में जो-कुछ दिखाई पड़ता है, सब उसी की अभिव्यक्तियां हैं—तो फिर इसका फल क्या है? क्या हम अक्रिय बन कर एक कोने में बैठ रहें और वहीं आजन्म पड़े रहें? इससे संसार का क्या लाभ होगा? फिर वही पुराना प्रश्न आता है! पहले यह तो बतलाइए कि हम संसार की भलाई करें, तो क्यों करें? क्या कोई हेतु है कि हम करें ही? किसी को हमसे यह पूछने का अधिकार ही क्या है कि इससे संसार का क्या लाभ है? इसका अभिप्राय क्या है? एक बच्चे को मिस्री प्रिय है। मान लीजिए कि आप विद्युत के संबंध में किसी विषय की खोज कर रहे हैं और बच्चा आपसे कहे कि—'क्या इससे मिस्री मिल जाएगी?' तो आप उत्तर देंगे कि—'मिस्री इससे न मिलेगी।' तो वह आपसे यही कह सकता है कि—'फिर इससे लाभ क्या है?' इसी प्रकार लोग यह प्रश्न करेंगे कि—'इससे जगत का क्या लाभ है, इससे रुपया तो नहीं मिलेगा?' इसका उत्तर आप इसके सिवा क्या देंगे कि—'नहीं?' फिर वही प्रश्न घूम-फिर कर आएगा कि—'फिर इससे लाभ क्या है?' संसार को लाभ पहुंचने का वही अर्थ है, जो बालक के बिजली की खोज से मिस्री पाने का है। पर, धर्म के साक्षात्कार से संसार का सारा लाभ है।

लोगों को भय है कि जब वे इसे प्राप्त कर लेंगे, जब वे यह साक्षात कर लेंगे कि—'एक ही' है, तब प्रेम का स्रोत सूख जाएगा, इस जीवन की सारी बातें जाती रहेंगी, जो बातें उन्हें प्रिय जान पड़ रही हैं—उनका मानो इस जन्म और भावी जन्म के लिए लोप हो जाएगा। लोग यह बात सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि संसार में बड़े-बड़े काम करने वाले वे ही लोग हो गए हैं जिन्होंने अपनी व्यक्तिता पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है। मनुष्य तभी प्रेम करता है, जब वह यह जानता है कि जिससे हम प्रेम कर रहे हैं वह मिट्टी की डली नहीं है, अपितु सचमुच स्वयं ईश्वर ही है। पत्नी पति से तभी अधिक प्रेम करेगी, जब वह यह जानेगी कि पति स्वयं ईश्वर है और तभी पति का प्रेम पत्नी पर विशेष रूप से होगा, जब वह उसे ईश्वर समझेगा। वह माता, जो अपनी संतान को ईश्वर समझे, उनसे अधिक प्रेम करेगी। वही मनुष्य अपने शत्रु से प्रेम करेगा, जो यह जानेगा कि वह शत्रु ईश्वर है। वही पुरुष महात्मा से प्रेम करेगा, जो उस महात्मा को ईश्वर समझेगा और वही मनुष्य अति जघन्य पुरुष से प्रेम रखेगा, जो यह समझे कि उस जघन्य में भी वही भगवान है। ऐसा ही मनुष्य संसार का संचालक बनता है, जिसमें उसका क्षुद्र आत्मभाव नष्ट होकर उसके स्थान में ब्रह्म के भाव का उदय हो गया है। उसके सामने सारा विश्व कुछ और ही रूप धारण कर लेगा। जो-कुछ कष्टकारक और दुखदायी है, सब क्षय को प्राप्त हो जाएगा; सारे झगड़े निवृत्त हो जाएंगे, भाग जाएंगे। यह संसार, जो बंदीगृह बना है, जिसमें हम नित्य एक टुकड़ा रोटी के लिए लड़ते-झगड़ते हैं, तब क्रीड़ागार बन जाएगा। तब विश्व सुंदर रूप धारण कर लेगा, सुहावना जान पड़ेगा। ऐसे मनुष्य को उठ कर यह कहने का अधिकार है कि—'यह संसार कैसा सुहावना है?' उसी अकेले को यह कहने का अधिकार है कि सब भला ही भला है। ऐसे साक्षात्कार से संसार का बड़ा ही उपकार होगा। यदि लोग इस सत्य के अंशमात्र का साक्षात्कार कर लें, तो यही संसार, जहां दिन-रात रगड़ा मचा रहता है, कुछ और ही हो जाए, उसकी दशा फिर जाए। इस संसार में जहां लड़ाई-झगड़े मच रहे हैं, शांति का साम्राज्य विराजने लग जाए। यह अशिष्ट और पशुओं के समान व्यग्रता, जिससे लोग ठेलमठेला कर रहे हैं, इस संसार में न दिखाई पड़े। सारे झगड़े, सारी घृणा, सारी ईर्ष्या, सारी बुराइयां सदा के लिए जड़ से विदा हो जाएं। तब इस पृथ्वी पर ईश्वर विराजमान होगा।

दैवी साक्षात्कार की यही बड़ी उपयोगिता है कि सब-कुछ, जो आपको समाज में दिखाई पड़ रहा है—बदल जाएगा, कुछ और जो आपको समाज में दिखाई पड़ रहा है—बदल जाएगा, कुछ और ही हो जाएगा। सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि आप फिर मनुष्य को बुरा न समझेंगे। फिर आप किसी बेचारे पर उसकी भूल के लाल आंखें न

शेष पृष्ठ 40 पर

अनशन : दमन नहीं शोधन

मुनि मदनकुमार

'आत्महत्या हिंसा है। उसके पीछे आवेश, निराशा, असहिष्णुता, असफलता, अभाव, मन की इच्छा का पूरा न होना आदि ऐसे कारण हैं, जो विवेक को समाप्त कर देते हैं। संथारा शुद्ध साधना है, आध्यात्मिक प्रयोग है और मृत्यु की कला है। इसे स्वीकार करने से पहले और पीछे एकमात्र साधना का लक्ष्य रहता है। यह अहिंसात्मक प्रयोग है। भगवान महावीर ने संयम जीवन जीने की चेतना जगाई, उसी प्रकार समाधि-मरण का वरण करने की कला सिखाई। संयम जीवन जीना धर्म है। वैसे ही समाधि-मरण भी धर्म है। असंयम का जीवन और असमाधि में मरण—दोनों ही धर्म नहीं हैं।'

आत्महत्या क्षणिक प्रयास है, आवेश आधारित है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय है कि आत्महत्या का किसी को अधिकार नहीं है। भारतीय दंड संहिता की धारा 309 के अनुसार स्वयं की मृत्यु का प्रयास अवैधानिक है। संविधान के अनुच्छेद 21 में जीने के अधिकार के साथ मरने का अधिकार नहीं दिया गया है। पर, संथारा आत्म-हत्या की श्रेणी में नहीं है, क्योंकि यह आत्म-निग्रह और आत्मलीनता का प्रयोग है। इसमें मृत्यु का भय और मृत्यु की आकांक्षा, दोनों ही नहीं है। फिर इसे आत्महत्या कैसे कहा जाए?

आचारांग के अनुसार संलेखना का उद्देश्य संथारे की ओर अग्रसर होना है। शरीर को संथारे के अनुकूल बनाने में संलेखना की महनीय भूमिका है। आचारांग में कहा गया है—

कसाए पयणुए किच्चा, अप्पाहारो तितिक्खए।

अह भिक्खू गिलाएज्जा, आहारस्सेव अंतियं।।

वह कषाय को कृश तथा आहार को अल्प कर अल्पाहार के कारण होने वाले कष्टों को सहन करता है, आहार की अल्पता करते-करते वह मरणासन्न काल में ग्लान (असमर्थ) हो जाता है। इस गाथा में कषाय का कृशीकरण और आहार का अल्पीकरण—ये दोनों प्रकार के तप उपदिष्ट हैं। कषाय को कृश किए बिना केवल आहार का अल्पीकरण साध्य के निकट नहीं ले जाता। इसलिए कषाय का कृशीकरण रूप अंतरंग तप तथा आहार का अल्पीकरण रूप—बाह्य तप; यह द्विविध तप अर्हतों द्वारा सम्मत है।

दो अंकों में समाप्य आलेख की अंतिम कड़ी

आगम-साहित्य में संलेखना का विधान है,

किंतु संलेखना के पूर्व या मध्य भी अनशन किया जा सकता है। आकस्मिक परिस्थिति उत्पन्न होने पर श्रमण निर्ग्रंथ के लिए संथारा करने का परिपूर्ण अवकाश है। इस संदर्भ में कहा गया है—

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरद्धाए, खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए।।

अबाध रूप से चल रहे अपने संलेखनाकालीन जीवन में आकस्मिक बाधा जान पड़े, तो उस संलेखना काल के मध्य में ही पंडित, भिक्षु शीघ्र आहार का प्रत्याख्यान करे।

संथारे का स्वरूप

जैन परंपरा में अनशन के दो प्रकार विहित हैं— इत्वरिक और मरण काल। इत्वरिक सावकांक्ष—अनशन के पश्चात् भोजन की इच्छा से युक्त और दूसरा निरवकांक्ष—भोजन की इच्छा से मुक्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

इत्तिरिया मरणकाले, दुविहा अणसणा भवे।
इत्तिरिया सावकंखा, निरवकंखा बिइज्जिया।।

औपपातिक सूत्र में इत्वरिक अनशन के चौदह प्रकार बतलाए गए हैं—

1. चतुर्थ भक्त—उपवास।
2. षष्ट भक्त—दो दिन का उपवास।
3. अष्टम भक्त—तीन दिन का उपवास।
4. दशम भक्त—चार दिन का उपवास।
5. द्वादश भक्त—पांच दिन का उपवास।
6. चतुर्दश भक्त—छह दिन का उपवास।
7. षोडश भक्त—सात दिन का उपवास।
8. अर्धमासिक भक्त—पन्द्रह दिन का उपवास।
9. मासिक भक्त—एक मास का उपवास।
10. द्वैमासिक भक्त—दो मास का उपवास।
11. त्रैमासिक भक्त—तीन मास का उपवास।
12. चतुर्मासिक भक्त—चार मास का उपवास।
13. पंचमासिक भक्त—पांच मास का उपवास।
14. छहमासिक भक्त—छह मास का उपवास।

इत्वरिक तप कम से कम एक दिन और अधिक से अधिक छह मास तक का होता है। भगवती सूत्र में तपस्या के दो प्रकार बतलाए गए हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक। इत्वरिक है—अल्पकालिक तप और यावत्कथिक है—आजीवन आहार का परित्याग। प्रस्तुत प्रकरण में इत्वरिक तप प्रासंगिक नहीं है।

यावत्कथिक—मारणांतिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है—(i) सविचार और (ii) अविचार। यह भेद काय चेष्टा के आश्रय से है, जिसमें उद्वर्तनादि आवश्यक शारीरिक क्रियाओं का विचार हो, उनके लिए अवकाश हो, वे की जा सकती हों—उसे सविचार मारणांतिक अनशन कहते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार की शारीरिक क्रियाओं का विचार न हो, उनके लिए अवकाश न हो, वे न की जा सकती हों—वह अविचार मारणांतिक अनशन कहलाता है।

अनशन के दो प्रकार बतलाए गए हैं—सपराक्रम और अपराक्रम। जंघा-बल होने पर किया जाने वाला अनशन सपराक्रम और जंघा-बल के क्षीण होने पर किया जाने वाला अनशन अपराक्रम होता है।

औपपातिक सूत्र में यावत्कथिक—मारणांतिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है—(i) पादोपगमन और (ii) भक्त प्रत्याख्यान। पादोपगमन नियमतः अप्रतिकर्म है और इसके दो प्रकार हैं—व्याघात और निर्व्याघात। भक्त-प्रत्याख्यान नियमतः सप्रतिकर्म है और उसके भी दो प्रकार हैं—व्याघात और निर्व्याघात। सिंह, दावानल आदि उपसर्गों से अभिभूत होने पर हठात जो अनशन किया जाता है—वह व्याघात और जो बिना ऐसी परिस्थितियों के यथाकाल किया जाए—वह निर्व्याघात अनशन है।

साधारण नियम ऐसा है कि मारणांतिक अनशन संलेखनापूर्वक किया जाना चाहिए—अर्थात् शरीर और कषायों की यथाविधि तप से संलेखना करते हुए—उन्हें क्षीण करते हुए—बाद में यथासमय यावज्जीवन आहार का त्याग करना चाहिए—अन्यथा आर्तध्यान की संभावना रहती है। पर, कभी-कभी ऐसी परिस्थितियां बन जाती हैं कि संलेखना का अवसर ही नहीं रहता। सिंह, दावानल, भूकंप आदि ऐसी परिस्थितियां उपस्थित हो जाती हैं कि तुरंत ही समाधिमरण करने की आवश्यकता हो जाती है। ऐसे समय में जब अचानक काल समीप दिखाई देने लगता है, उस समय जो मारणांतिक अनशन किया जाता है—वह व्याघात कहलाता है। सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ—तीनों जानने वाला मुमुक्षु परिकर्म-संलेखनात्मक तप कर यथासमय जो मारणांतिक अनशन करता है—वह निर्व्याघात कहा गया है। अनशन के व्याघात और निर्व्याघात भेदों को सपरिकर्म

(संलेखना-सहित) और अपरिकर्म (संलेखना-रहित) शब्दों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है। यथा—

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमणीहारी, आहारच्छेओ य दोसु वि।।

सपरिकर्म का अर्थ है—जो संलेखनापूर्वक किया जाए—**संलेखना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म**। अपरिकर्म का अर्थ है—जो संलेखना बिना किया जाए—**तद्विपरीतं तु अपरिकर्म**। इस तरह स्पष्ट है कि व्याघात-निर्व्याघात और अपरिकर्म-सपरिकर्म शब्द पर्यायवाची हैं।

भगवती सूत्र में भी अनशन के दो प्रकार बतलाए गए हैं—प्रायोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान। इसे अभिव्यक्त करते हुए आराधना में श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा है—

अणसण द्विविध जिन कह्यो, पंचम अंगे पिछाण।
पाओवगमन ते प्रथम ही, दूजो भत-पचखाण।।

समवायांग सूत्र के समवाय 17-9 में इस अनशन के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन। ये त्रिविध अनशन समाधि-मरण के लिए किए जाते हैं। भक्त-प्रत्याख्यान में जलवर्जित त्रिविध आहार का भी प्रत्याख्यान किया जाता है और चतुर्विध आहार का भी। इंगिनी और प्रायोपगमन—इन दोनों में चतुर्विध आहार का परित्याग किया जाता है। भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार आ-जा सकता है। इंगिनी अनशन करने वाला नियत प्रदेश में इधर-उधर आ-जा सकता है, किंतु उससे बाहर नहीं जा सकता है। प्रायोपगमन (पादपोपगमन) अनशन करने वाला वृक्ष के समान निश्चेष्ट होकर लेटा रहता है, या जिस आसन में अनशन प्रारंभ करता है—उसी आसन में स्थिर रहता है, हलन-चलन नहीं करता। भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला स्वयं भी अपनी शुश्रूषा करता है और दूसरों से भी करवाता है। इंगिनी अनशन करने वाला दूसरों से शुश्रूषा नहीं करवाता, किंतु स्वयं अपनी शुश्रूषा कर सकता है। प्रायोपगमन अनशन करने वाला अपने शरीर की शुश्रूषा न स्वयं करता है और न किसी दूसरे से करवाता है।

वृत्तिकार शांत्याचार्य ने निर्हारि (उपाश्रय से बाहर गिरि कंदरा आदि एकांत स्थानों में किया जाने वाला) और अनिर्हारि (उपाश्रय में किया जाने वाला)—ये दोनों प्रायोपगमन के प्रकार बतलाए हैं। किंतु स्थानांग में ये दो प्रकार भक्त-प्रत्याख्यान के भी किए गए हैं।

भक्त-प्रत्याख्यान—यह अनशन नियमतः सप्रतिकर्म—जिस प्रकार शरीर की समाधि हो—वैसी ही प्रतिक्रिया से युक्त कहा गया है। भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला स्वयं उद्वर्तन-परिवर्तन करता है और समर्थ न होने पर समाधि के लिए थोड़ा अप्रतिबद्ध रूप से दूसरे से भी कराता है। पादोपगमन सर्व चेष्टाओं से रहित होता है। इंगिनीमरण में दूसरे का सहारा लिए बिना नियत चेष्टाएं की जा सकती हैं और भक्त-प्रत्याख्यान में दूसरे के सहारे से भी चेष्टाएं की जा सकती हैं। दूसरे शब्दों में पादोपगमन अविचार (स्थिरता युक्त) अनशन है और इंगिनीमरण तथा भक्त-प्रत्याख्यान सविचार (हलन-चलन सहित) अनशन है।

इंगिनी मरण—इसमें चतुर्विध आहार का त्याग कर इंगित—नियत देश के अंदर रहना पड़ता है और चेष्टाएं भी इसी नियत देश-क्षेत्र में ही की जा सकती हैं। इंगिनी अनशन करने वाला दूसरों से सेवा नहीं लेता, अपना काम स्वयं करता है। मूलाराधना के अनुसार वह उपसर्ग होने-पर भी निष्प्रतिकर्म होता है—प्रतिकार रहित उन्हें सहता है। इसे इंगित मरण भी कहा जाता है। आचारांग के विमोक्ष अध्ययन में कहा है—**तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए इत्तरियं कुज्जा**—संलेखना करने वाला भिक्षु घास का बिछौना कर इत्वरिक अनशन करे। यहां इत्वरिक का अर्थ इंगिनी मरण है। यह इंगिनी मरण अनशन भक्त-प्रत्याख्यान अनशन की अपेक्षा उच्चतर, प्रशस्यतर और कष्टतर होता है। वृत्तिकार का अभिमत है कि इस अनशन को करने वाला विज्ञाता होना चाहिए अर्थात् नौ पूर्वों का ज्ञाता अथवा उससे भी अधिक अतिशय ज्ञानी हो।

प्रायोपगमन—चारों प्रकार के आहार का जीवन पर्यंत त्याग कर किसी खास संस्थान में स्थित हो यावज्जीवन पतित-पादप की तरह निश्चल रहकर जो किया जाए—उसे पादोपगमन अनशन कहते हैं। इसमें तृणसंस्तर (घास का बिछौना) नहीं किया जाता, स्वयं परिचर्या करना भी वर्जित होता है, यह सर्वथा अपरिकर्म होता है। भक्त-प्रत्याख्यान में शारीरिक परिचर्या स्वयं की जाती है और दूसरों से कराई भी जाती है। इंगिनी मरण में वह स्वयं की जाती है—दूसरों से नहीं कराई जाती। प्रायोपगमन में वह न स्वयं की जाती है और न दूसरों से कराई जाती है। मूलाराधना के अनुसार प्रायोपगमन अनशन करने वाला शरीर को इतना कृश कर लेता है कि उसके मल-मूत्र आदि होते ही नहीं। वह अनशन

करते समय जहां अपना शरीर टिका देता है, वहीं स्थिर भाव से टिकाए रहता है। इस प्रकार वह निष्प्रतिकर्म होता है। वह अचल होता है, इसलिए अनिर्हार होता है। दूसरा कोई व्यक्ति उसे उठा कर किसी दूसरे स्थान में डाल देता है तो परकृत चालन की अपेक्षा वह निर्हार भी हो जाता है।

यह प्रायोपगमन अनशन इंगिनी मरण अनशन की अपेक्षा महत्तर है। इसलिए प्रायोपगमन अनशन में स्थान से विचलन का प्रतिषेध किया गया है। निश्चेष्ट अवस्था में सोने पर संपूर्ण शरीर में अकड़न आ जाती है, यह स्वाभाविक है। फिर भी प्रायोपगमन अनशन को स्वीकार करने वाले का मनोबल दृढ़तर होता है और उसकी सहनशक्ति प्रबल होती है। इसलिए वह परिपूर्ण कायोत्सर्ग का अनुपालन करने में समर्थ हो जाता है। आचारांग भाष्य के अनुसार प्रायोपगमन अनशन-कर्ता को अन्यत्वानुप्रेक्षा का आलंबन लेना चाहिए। उससे परीषहों को सहना शक्य हो जाता है। प्रायोपगमन अनशन तीनों मुद्राओं (अवस्थाओं) में स्वीकार किया जा सकता है—(1) **निपन्न**—सोए कायोत्सर्ग में, (2) **निषण्ण**—बैठे कायोत्सर्ग में और (3) **ऊर्ध्व**—खड़े कायोत्सर्ग में। इन तीनों मुद्राओं में शरीर को लंबे समय तक एक ही कायोत्सर्ग की मुद्रा-विशेष में स्थिर रखने के कारण संताप होता है। तब—'यह शरीर मेरा नहीं है तो परीषह कहां होंगे?' अथवा—'मैं सुख-दुख को समान मानता हुआ समत्व में विहरण कर रहा हूं, इसलिए मेरे शरीर में परीषह (उपद्रव) नहीं है।'—इस आलंबन-सूत्र से अनशनकारी आने वाले परीषहों को सम्यक् रूप से सहन करता है। प्रायोपगमन की अवस्था में समाहित चित्त वाले व्यक्ति के उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

आचारांग भाष्य में कहा गया है—'जीवन की समाप्ति अनशनपूर्वक हो, यह समाधि-मरण का तत्त्व है। तीनों विमोहों (अनशनों) में से किसी एक विमोह का स्वीकार हितकर है। अनशनकाल में सब अर्थों, शब्द आदि विषयों—भले फिर वे दैविक हों या मानुषिक—में अमूर्च्छा तथा प्राप्त उपसर्गों और परीषहों में तितिक्षा—यह परम हितकर है—यह जान कर भिक्षु अनशन की सम्यक् आराधना करे।' अनशन की उत्प्रेरणा में आचारांग सूत्रकार कहते हैं—**तं सच्चं सच्चावादी ओए तिण्णे छिन्न-कहंकहे आतीतट्ठे अणातीते वेच्चाण भेउरं कायं, संविहुणिय विरुवरुवे परिसहोवसग्गे अस्सिं विस्सं भइत्ता भेखमणु-चिण्णे**—यह अनशन सत्य है। उसे सत्यवादी-प्रतिज्ञा का निर्वाह करने वाला, वीतराग, संसार-समुद्र को पार पाने वाला, अनशन का निर्वाह होगा या नहीं—इस संशय से मुक्त, सर्वथा कृतार्थ, परिस्थिति से अप्रभावित शरीर को क्षणभंगुर जान कर, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को मथकर 'जीव पृथक है', 'शरीर पृथक है'—इस भेद विज्ञान की भावना का आसेवन कर वेष अनशन का अनुपालन करता हुआ क्षुब्ध न हो। अनशनपूर्वक मरण अकाल मृत्यु नहीं है। इस सचाई को प्रकट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—**तत्थावि तस्स काल परियाए**—अनशन करने पर भी उसकी वह काल मृत्यु होती है। इतना ही नहीं, अनशनपूर्वक मरण प्राप्त करने वाला अंतःक्रिया—पूर्ण कर्म क्षय करने वाला भी हो सकता है।

अनशन का हेतु शरीर के प्रति निर्ममत्व है। जब तक शरीर-ममत्व होता है, तब तक मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहता है और जब वह शरीर-ममत्व से मुक्त होता है—तब मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है। अनशन को देह-निर्ममत्व या अभय की साधना का विशिष्ट प्रकार कहा जा सकता है। मृत्यु अनशन का उद्देश्य नहीं, किंतु उसका गौण परिणाम है। उसका मुख्य परिणाम है—आत्मलीनता। महात्मा गांधी ने—'उपवास से लाभ'—पुस्तक में अनुभव के स्वर में लिखा है—'मुझे मालूम होता है कि किसी कारण से आदमी को मरना ही हो अथवा मालूम हो जाए कि मरना है, तो खाए हुए से उपवास करके मरना कहीं बढ़कर है, अथवा इन दोनों का मुकाबला ही उचित नहीं है। मैं नहीं जानता कि खाए हुए मरने से वृत्ति कैसी रहती होगी, पर जान पड़ता है कि अच्छी तो नहीं रहती होगी और उपवास में वृत्ति का क्या पूछना है? जान पड़ता है ब्रह्मानंद में लीन है।'

आचारांग में शरीर विमोक्ष पद के अंतर्गत एक विकट परिस्थिति का उल्लेख मिलता है। जैसे—भिक्षु भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर जाता है, उस समय उसके पारिवारिक लोग उसे घर में रखने का प्रयत्न करते हैं, अथवा किसी अन्य घर में जाने पर कोई स्त्री मुग्ध होकर उसे अपने घर में रखने का प्रयत्न करती है। उस स्थिति में उसे क्या करना चाहिए? इस संदर्भ में सूत्रकार का निर्देश है—मरण दो प्रकार का होता है—बाल-मरण और पंडित-मरण। वैहायस—फांसी लगाकर मरना बाल-मरण है। अनशन पंडित-मरण है। किंतु तात्कालिक परिस्थिति में फंसा हुआ

भिक्षु अनशन का प्रयोग कैसे करे? उस समय ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए उसे 'वैहायस' मृत्यु के प्रयोग की स्वीकृति दी गई है। इस स्थिति में वह बाल-मरण नहीं है। सूत्रकार यहां एक स्थिति की ओर संकेत करते हैं। कोई भिक्षु भिक्षा के लिए जाए, पारिवारिक लोग—उसकी पूर्व-पत्नी सहित—उसे कमरे में बंद कर दें, वह उससे बाहर निकल न सके, उसकी पूर्व-पत्नी उसे विचलित करने का प्रयत्न करे—तब वह श्वास बंद कर मृतक जैसा हो जाए और अवसर पाकर गले में दिखावटी फांसी लगाने का प्रयत्न करे—उस समय वह स्त्री कहे कि आप चले जाएं, किंतु प्राण-त्याग न करें, तब भिक्षु आ जाए और यदि वह स्त्री उसे ऐसा न कहे—तो वह गले में फांसी लगाकर प्राण-त्याग कर दे। ऐसा करना बाल-मरण नहीं है, यह भगवान महावीर के द्वारा अनुज्ञात है। इस संदर्भ में आचारांग भाष्यकार कहते हैं कि उस उपसर्ग की अवस्था में अथवा असहनीय मोहनीय कर्म की स्थिति में उपसर्ग में फंसे उस भिक्षु का यह कालपर्याय (फांसी लगाकर मरना) अप्रतिषिद्ध है। स्थानांग में कहा है—**कारणे पुण अप्पडिकुट्ठाइं, तं जहा-वेहाणसे चेव, गिद्धपट्ठे चेव**—अर्थात् शीलरक्षा आदि प्रयोजन होने पर मुनि के लिए दो प्रकार के मरण अनुमत हैं—वैहायस मरण; फांसी लगाकर मरना तथा गृद्धस्पृष्ट मरण—वृहत्काय वाले जानवर के शव में प्रवेश कर शरीर का व्युत्सर्ग करना। इसकी संपुष्टि में आचारांग सूत्रकार कहते हैं—**से वि तत्थ विअंतिकारए**—उस प्रकार की कारणिक, आपवादिक मृत्यु से मरने वाला वह भिक्षु अंतःक्रिया करने वाला, अर्थात् पूर्ण कर्म-क्षय करने वाला भी हो सकता है।

मूलाराधना में अनशन के अधिकारी का वर्णन है। इसके अधिकारी वे होते हैं—(i) जो दुश्चिकित्स्य व्याधि (संयम को छोड़े बिना जिसका प्रतिकार करना संभव न हो) से पीड़ित हो। (ii) जो श्रामण्य-योग की हानि करने वाली जरा से अभिभूत हो। (iii) जो देव, मनुष्य या तिर्यंच संबंधी उपसर्गों से उपद्रुत हो। (iv) जिसके चारित्र-विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग किए जा रहे हों। (v) दुष्काल में जिसे शुद्ध भिक्षा न मिले। (vi) जो गहन अटवी में दिग्मूढ़ हो जाए और मार्ग हाथ न लगे। (vii) जिसके चक्षु और श्रोत्र दुर्बल तथा जंघाबल क्षीण हो जाए और जो विहार करने में समर्थ न हो।

उक्त व इन जैसे अन्य कारण उपस्थित होने पर व्यक्ति अनशन का अधिकारी होता है। जिस मुनि का चारित्र निरतिचार पल रहा हो, संलेखना कराने वाले आचार्य भविष्य में सुलभ हों, दुर्भिक्ष का भय न हो—वैसी स्थिति में वह अनशन का अनधिकारी है। विशिष्ट स्थिति उत्पन्न हुए बिना जो अनशन करे, तो समझना चाहिए कि वह चारित्र से खिन्न है।

संथारा आज्ञापूर्वक किया जाता है और उसकी प्रक्रिया जैनागम में उपलब्ध है। प्रशांत मन से संथारा स्वीकार किया जाता है। उद्विग्नता के लिए इसमें किंचित भी अवकाश नहीं है। संथारा जीवन का अत्यंत विवेकपूर्ण कार्य है। यह सुचिंतनपूर्वक और सर्वसम्मति के साथ होना चाहिए। 'श्री भिक्षु महाकाव्य' में कहा गया है—जो बिना सोचे संलेखना-संथारा तथा तप आदि करते हैं, वे आर्त-ध्यान से मर कर अपने जन्म को बिगाड़ देते हैं। ऐसे मनुष्यों का संथारा यदि पार भी पहुंच जाए तो भी लज्जावश किए जाने एवं असत्परिणाम पूर्वक होने से वह अकाम मरण है। अकाम मरण करने वाले घोर भव समुद्र में डूबते हैं और उनके पीछे-पीछे उनका गुणग्राम करने वाले भी डूब जाते हैं। वैसे मरने वाले एवं मारने वाले—दोनों ही दुर्गति में पड़ते हैं और वे कर्मों के कुचक्र से महामोहनीय कर्म भी बांध लेते हैं।

संथारा : आत्महत्या नहीं

मृत्यु को निकट जान कर विवेकपूर्वक शरीर त्याग के निर्णय और उसकी क्रियान्विति की प्रक्रिया का नाम अनशन, संथारा या संलेखना है। जैन धर्म के अनुसार श्रावक और साधु जीवन का यह चरम उत्कर्ष है। यह जिनाज्ञा के अंतर्गत है। स्थानांग सूत्र में कहा गया है—**सरीरवुच्छेयणट्ठाए समणे णिग्गंथे आहारं वोच्छिंदमाणे णातिक्कमति**—शरीर का व्युत्सर्ग करने के लिए श्रमण-निर्ग्रंथ आहार का परित्याग करता हुआ आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। साधु और श्रावकों के तीन मनोरथों में संलेखना व्रत का विशेष महत्त्व है।

व्यक्ति को जीवन सर्वाधिक प्रिय होता है। कोई भी इसे त्यागना नहीं चाहता। बल्कि सामान्यतया चिरजीवी या स्वस्थजीवी होने की ललक में अनेक प्रयोग भी करता है। ऐसे में जीवन का मोह त्याग कर संथारे के द्वारा मृत्यु का वरण वीरोचित कार्य है। मृत्यु का निर्भयता से मुकाबला प्रेरणा का स्रोत होता है। संथारे के पीछे आत्म-निर्मलता की भावना कार्य करती है। अनशनपूर्वक मृत्यु को प्राप्त करने वालों को संघ और समाज में भी आदर का स्थान प्राप्त

होता है। ऐसे भाग्यशाली व्यक्ति मानो निर्भयता और वीरता की मिसाल बन जाते हैं।

कई बार कई लोग अनशन, संथारा या संलेखना को भ्रांतिवश आत्महत्या या आत्मघात की संज्ञा देते हैं। यह उनके चिंतन के अभाव को दर्शाता है। यदि सुचिंतित परिशीलन किया जाए तो यह भ्रांति दूर हो जाती है। आचार्य उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—

न संलेखनां प्रतिपन्नस्य रागादय सन्ति ततौ नात्मवधदोषः।

आत्मघात राग-द्वेष के कारण किया जाता है, जबकि संलेखना व्रत लेने वाले का राग-द्वेष पहले ही उपशांत हुआ रहता है।

संथारे को उस अवस्था में न्यायसंगत माना जाता है, जब शरीर व्रतों की अनुपालना की दृष्टि से असमर्थ हो गया हो। पश्चिमी देशों में भी 'यूथेनेसिया' के द्वारा मृत्यु का वरण करने की बात आती है, किंतु संथारे की पद्धति इससे भिन्न, उच्च और आत्मोन्मुखी है। मृत्यु के विषय में कबीरदासजी कहते हैं—

जा मरने से जग डरै, मो मन में आनंद।
कब मरिहों कब पाइहों, पूरन परमानंद।।

संथारा आत्मा की निर्मलता हेतु एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। यह 'इच्छा-मृत्यु' तो नहीं, लेकिन मृत्यु की सुनिर्णीत इच्छा की परिणति है। संथारे के स्वरूप को व्यक्त करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा—'तपस्या के दो प्रकार हैं—अल्पकालिक और यावज्जीवन। उपवास, बेला, तेला, पंचोला, अठाई, पक्ष, मासखमण आदि अल्पकालिक तपस्या के अंग हैं। आजीवन तपस्या का मतलब है—संथारा। कुछ लोग संथारे को आत्महत्या मानते हैं। यह नासमझी का परिणाम है। आत्महत्या जिन कारणों से की जाती है, उनकी उपस्थिति में संथारा हो ही नहीं सकता। क्या गुलाब का इत्र और लहसुन एक हो सकते हैं? दोनों पदार्थों में गंध है। पर गंध-गंध में कितना अंतर है। आत्महत्या और संथारा—दोनों में जीवन-लीला समाप्त होती है, किंतु दोनों के उद्देश्य और प्रक्रिया में बहुत बड़ा अंतर रहता है।'

'आत्महत्या हिंसा है। उसके पीछे आवेश, निराशा, असहिष्णुता, असफलता, अभाव, मन की इच्छा का पूरा न होना आदि ऐसे कारण हैं, जो विवेक को समाप्त कर देते हैं। संथारा शुद्ध साधना है, आध्यात्मिक प्रयोग है और मृत्यु की कला है। इसे स्वीकार करने से पहले और पीछे एकमात्र साधना का लक्ष्य रहता है। यह अहिंसात्मक प्रयोग है। भगवान महावीर ने संयम जीवन जीने की चेतना जगाई, उसी प्रकार समाधि-मरण का वरण करने की कला सिखाई। संयम जीवन जीना धर्म है। वैसे ही समाधि-मरण भी धर्म है। असंयम का जीवन और असमाधि में मरण—दोनों ही धर्म नहीं हैं।'

आत्महत्या क्षणिक प्रयास है, आवेश आधारित है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय है कि आत्महत्या का किसी को अधिकार नहीं है। भारतीय दंड संहिता की धारा 309 के अनुसार स्वयं की मृत्यु का प्रयास अवैधानिक है। संविधान के अनुच्छेद 21 में जीने के अधिकार के साथ मरने का अधिकार नहीं दिया गया है। पर, संथारा आत्म-हत्या की श्रेणी में नहीं है, क्योंकि यह आत्म-निग्रह और आत्मलीनता का प्रयोग है। इसमें मृत्यु का भय और मृत्यु की आकांक्षा, दोनों ही नहीं है। फिर इसे आत्महत्या कैसे कहा जाए? मृत्यु तो भय पैदा करती है और अनशन व्यक्ति को अभय बनाता है। साधक मृत्यु के भय से बचना चाहता है। यही अनशन का मनोवैज्ञानिक आधार है। यह अनशन का आध्यात्मिक आधार भी है। अनशनपूर्वक मरण जैन धर्म की अनादि परंपरा है। इस उत्तम आत्मशोधक प्रयोग को आत्महत्या कहना अध्यात्म के सर्वोत्तम प्रयोग पर कुठाराघात है। इसमें आवेश, विवशता और दुविधा का सर्वथा अभाव पाया जाता है, फिर इसे आत्महत्या कहना अज्ञान की पराकाष्ठा है। यह तीर्थंकरों, गणधरों और आचार्यों द्वारा प्रयुक्त और अनुमोदित है। आधुनिक परिवेश में इसे—'आध्यात्मिक चिकित्सा'—कह सकते हैं। जीवन के अंतिम पड़ाव में यह एक आध्यात्मिक चिकित्सा है, तब इसका आलंबन क्यों न लिया जाए? संथारा मृत्यु की कला है और जीवन का उत्कर्ष है। जैन शास्त्रों में इसकी भरपूर प्रेरणा और समर्थन है। इस शास्त्रीय अवधारणा को खंडित करने में कोई भी सत्ता न सफल हुई है और न अनंतकाल में होगी। मनुस्मृति में कहा गया है—

नाभिनन्देत मरणं, नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत, निर्देशं भृतको यथा।।

संन्यासी को चाहिए कि न तो वह मृत्यु के लिए और न ही जीवन के लिए उत्सुक हो। वह अपने मृत्यु काल की प्रतीक्षा करे, ठीक उसी प्रकार जैसे नौकर स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है।

भगवान महावीर ने जीवन और मृत्यु, दोनों की अनेकांत दृष्टि से समीक्षा की है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति जैसे जीने के लिए स्वतंत्र है, वैसे ही मरने के लिए भी स्वतंत्र है। इस स्वतंत्रता का उपयोग और दुरुपयोग, दोनों ही हो सकते हैं। बालमरण मृत्यु की स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। भावावेश में जो आत्महत्या की जाती है—वह बालमरण है। वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। पंडितमरण या समाधिमरण मृत्यु की स्वतंत्रता का सदुपयोग है। इस मरण के पीछे कोई भावावेश नहीं होता। पूर्ण शांत और समाहित चित्त की अवस्था में इस मरण का वरण किया जाता है।

जीवन के बारे में भी भगवान महावीर का दृष्टिकोण अनेकांतवादी रहा है। उनकी दृष्टि में संयमपूर्ण जीवन वांछनीय है और असंयमपूर्ण जीवन वांछनीय नहीं है। उनकी भाषा है—जीवन की आकांक्षा और मरण की आकांक्षा, दोनों ही नहीं करनी चाहिए। व्यक्ति को जीवन की आकांक्षा और मरण के भय से मुक्त रहना चाहिए, किंतु संयमपूर्ण जीवन और समाधि-मरण की आकांक्षा करणीय है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 25 स्पष्ट करता है कि लोक व्यवस्था और सदाचार के अधीन रहते हुए देश के प्रत्येक नागरिक को अंतःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रसार करने का समान अधिकार होगा।

अनशन को आत्महत्या कहने से पहले आत्महत्या के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। आत्महत्या की भावना अपने-आप में वेदनापूर्ण है। यह एक क्षण में घटने वाली दुर्घटना है। यदि समय रहते स्थिति को समझ कर संभाल लिया जाए तो इसे टाला जा सकता है। आत्महत्या जीवन से निराशा की चरम अभिव्यक्ति है। यह आवेशकृत कार्य है। आत्महत्या अर्थात् जीवन से पलायन। आत्महत्या को भारतीय परंपरा घोर-पाप के रूप में देखती है। याज्ञवल्क्य सूत्र में इसे ब्रह्म-हत्या की श्रेणी में रखा गया है, जिसके लिए जन्म-जन्मांतर तक भटकना पड़ेगा। जबकि अनशन का महाभारत के वन पर्व में प्रायोपवेश नाम से उल्लेख मिलता है। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार प्रायोपवेश लंबे समय तक चलने वाली प्रक्रिया है। आमरण अनशन की तरह यह अपनी मांग मनवाने के लिए नहीं, देह का त्याग करने के लिए ही किया जाता रहा है। इस व्रत को पूरा करने में दृढ़ और प्रचंड संकल्प-बल चाहिए, इसलिए प्रायोपवेश को जीवन से भागना नहीं कहा जा सकता। श्रीअरविंद के अनुसार इस तरह के प्रसंग मृत्यु को जीवन से ज्यादा मूल्यवान बनाते हैं। ❖

(समाप्त)

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **जैन भारती** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **जैन भारती** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती
एक संपूर्ण पत्रिका है
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती
पढ़ें, सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

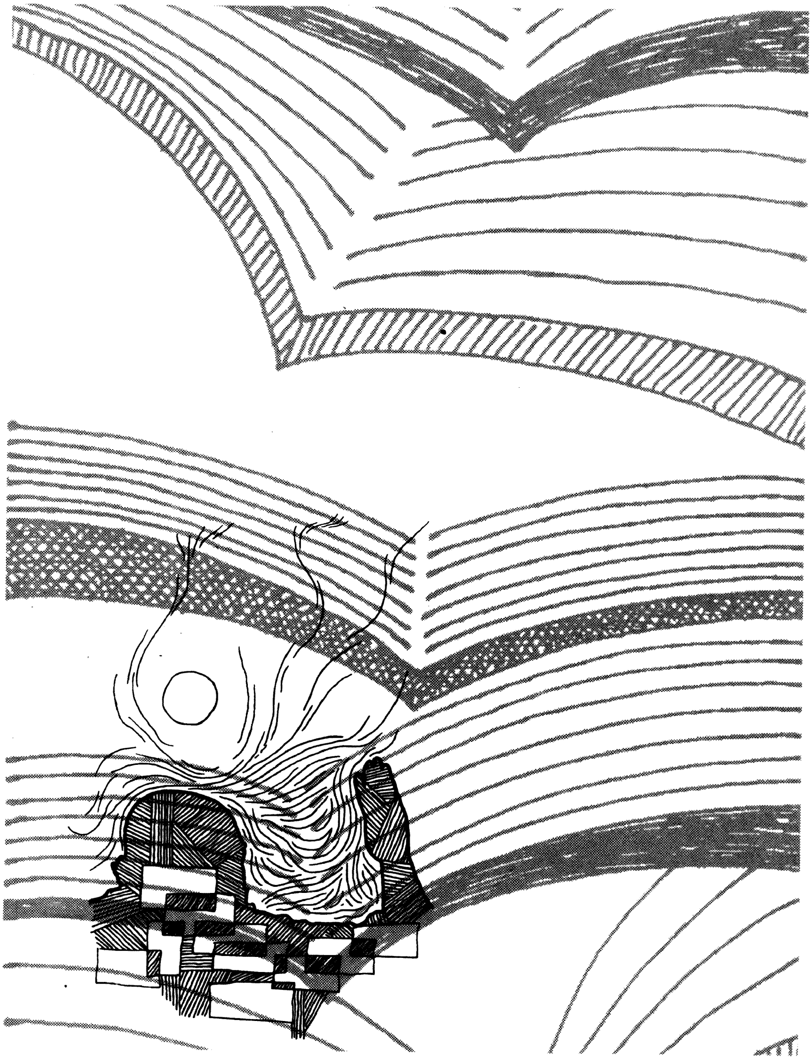

अनुभूति

स्वःलोक में रमण करने वाला प्राण चिदात्मा है। निःसीम चिदाकाश उसकी रणभूमि है। शुद्ध अहं—किसी भी नाम, रूप, छाप से विहीन 'मैं' उसका साधन है। इंद्रियों, मन, बुद्धि, चित्त के समस्त रंगों को निथार कर अपने ही अस्तित्व के प्रगाढ़ आनंद में अहं निमग्न रहता है, सुषुप्ति उसका प्रदेश है। जिस तरह भूतात्मा की बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि रहती है, उसी तरह चिदात्मा की दृष्टि शुद्ध चैतन्य की ओर रहती है। इसीलिए उसे चेतोमुख कहा जाता है। मनुष्य प्रतिदिन इस भूमिका में प्रवेश करता है, पर वह मूर्च्छित होकर जाता है, अतः उसे उसका पता नहीं रहता है। यहां चिदात्मा के रूप में सभी कुछ अपने में समेटकर रहने वाला प्राण है। पर, अत्यंत सूक्ष्म चिदाकाश का आवरण तोड़ना शेष रह जाता है। यह चतुर्थ अवस्था में होता है—जहां जाग्रति, स्वप्न सुषुप्ति समान बन जाती है। बाह्य और आभ्यंतर के भेद विलीन हो जाते हैं। 'सर्वबाह्यभ्यंतरो हि अजः' अर्थात् बाहर और अंदर केवल अजन्मा आत्मतत्त्व रहता है।

—मकरन्द दवे

जीवन की व्याख्या : एक अनुचिंतन

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हम केवल पदार्थ के विकास के आधार पर मानव जाति को नहीं बांटें, इसके साथ चेतना को भी जोड़ें। जिसकी चेतना जाग्रत नहीं है, जिसकी चेतना में कषाय, क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि प्रबल हैं—वह राष्ट्र पदार्थ की दृष्टि से चाहे कितना ही विकसित हो गया हो, उस राष्ट्र को विकसित कहने में बहुत कठिनाई है। एक राष्ट्र विकसित तो कहलाता है, किंतु यदि वह एक मानव से घृणा करता है—रंगभेद के आधार पर, गोरे और काले के आधार पर—तो उस राष्ट्र को विकसित कहने में कठिनाई है। अतः जब तक चेतना के स्तर पर मानदंड तय नहीं होंगे, मूल्य की हमारी सारी कसौटियां गलत हो जाएंगी। मूल्य का प्रश्न आज महत्त्वपूर्ण बन रहा है, किंतु जब तक चेतना को सामने रख कर हम मूल्य का निर्धारण नहीं करेंगे, केवल पदार्थ के आधार पर मूल्य की मीमांसा करेंगे तो हमारा सारा विकास गलत साबित होगा।

ध्यान का अर्थ है—जीवन की नई व्याख्या करना। हमें जीवन की नई व्याख्या करनी होगी, मूल्यों की नई व्याख्या करनी होगी। उसका सूत्र यह है कि जहां आर्थिक विकास, पदार्थ का विकास, भौतिक विकास हो रहा है, वहां उसके साथ-साथ हमारी चेतना का भी विकास हो।

हमारा व्यवहार किससे चलता है? इस प्रश्न के उत्तर में चिंतन किया गया। चिंतन के बाद निर्णय किया गया—मनुष्य का व्यवहार वाणी के द्वारा संपादित होता है। भाषा के द्वारा वह सारे काम चला रहा है। भाषा न होती तो हमारा व्यवहार सिमट कर रह जाता, संकुचित हो जाता। भाषा है, इसलिए हमारे व्यवहार का विस्तार हो सका है।

व्यवहार के तीन रूप हैं—प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपेक्षा। मनुष्य प्रवृत्ति करता है, निवृत्ति करता है और उपेक्षा भी करता है। यह त्रिमूर्ति व्यवहार है। हमारा व्यवहार सदा एक प्रकार का ही नहीं होता। प्रश्न हो सकता है—व्यवहार के ये तीन रूप क्यों? एक ही प्रकार के क्यों नहीं? तीन हेतु उसका आधार हैं। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो हेय हैं, छोड़ने योग्य हैं। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो उपादेय हैं, ग्रहण करने योग्य हैं और कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो न स्वीकार करने योग्य हैं और न छोड़ने योग्य।

पावन जन्मोत्सव : आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी : 21 जून

हर्षाभिवादन

प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपेक्षा

दो आदमी जा रहे हैं। चलते-चलते रास्ते में चट्टान आ गई। एक ने कहा—हट कर चलो, बीच में चट्टान है, ठोकर खा जाओगे। वह हट जाता है, निवृत्त हो जाता है और दूसरे रास्ते से प्रवृत्त होता है। दोनों चले जा रहे हैं, प्रवृत्ति भी है और निवृत्ति भी है। बीच में कोई तिनका आ गया। वह उपेक्षणीय है, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। रास्ते में आग जलती हुई मिली। तत्काल कहेगा—अरे! बचना, कहीं आग की लपेट में आकर झुलस न जाएं। वह आग से निवृत्त होता है और दूसरे रास्ते में प्रवृत्त होता है। चलते-चलते राख की ढेरी आ गई। वह बुझी हुई आग है। न उससे बचने की जरूरत, न फंसने की जरूरत। उपेक्षणीय है वह। उससे कोई भय नहीं है, खतरा नहीं है। इसका अर्थ है—जिससे खतरा होता है, उससे मनुष्य निवृत्त होना चाहता है। जिससे लाभ होता है, उसमें प्रवृत्ति करना चाहता है। जिससे न खतरा होता है और न लाभ, उसमें न प्रवृत्ति और न निवृत्ति। उसकी उपेक्षा हो जाती है।

मौन क्यों : चिल्लाए क्यों

कुछ बच्चे खेल रहे थे। कुछ देर बाद एक गिरगिट निकला। बच्चों ने देखा, गिरगिट आया और चला गया। किसी ने उस पर ध्यान नहीं दिया। थोड़ी देर बाद एक सांप निकला। जैसे ही सांप दिखाई दिया, बच्चे भय से चिल्लाने लगे। बचने के लिए भागने लगे। सुरक्षा की तैयारी करने लगे। एक बच्चे के मन में प्रश्न पैदा हुआ—पहले जो जंतु दिखाई पड़ा, उसे देख कर किसी पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, कोई बोला नहीं। जब सांप दिखाई पड़ा, सब भय से चिल्ला पड़े। गिरगिट को देख कर सब मौन क्यों रहे? सांप को देख कर सब क्यों चिल्लाए? एक समझदार ने उसकी शंका का समाधान करते हुए कहा—'पहले जो दिखाई पड़ा था, वह गिरगिट था। वह खतरनाक नहीं होता, किसी को काटता नहीं। दूसरा जो जंतु आया वह जहरीला है, खतरनाक है, इसके काटने पर आदमी मर सकता है, इसलिए सब भयभीत हो गए।

व्यवहार : ज्ञान के साथ

जिससे खतरा होता है, उससे आदमी निवृत्त

मैं मानव जाति के भविष्य को देख रहा हूं

□ आचार्यश्री महाप्रज्ञ □

हमारे सामने तीन प्रश्न हैं—तेरापंथ का भविष्य, भारत का भविष्य और मानव जाति का भविष्य। तेरापंथ के भविष्य के बारे में यथासमय विचार करेंगे। भारत का भविष्य और मानव जाति का भविष्य—यह मैं आज बताना चाहता हूं।

जिस प्रकार समाज की व्यवस्था चल रही है, कुछ ही करोड़ लोग बहुत आनंद के साथ जी रहे हैं, कुछ करोड़ लोग मध्यम स्थिति में अच्छा जीवन जी रहे हैं, किंतु चालीस-पचास करोड़ से अधिक लोग ऐसे होंगे जिनको खाने को भी पूरा नहीं मिल पाता है। मुझे तो बहुत

यह बात 15 जून, 2004 की है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के जन्म दिवस पर संबोधि उपवन (राजसमंद जिला) में आयोजित पावन समारोह में आचार्यवर ने अपना यह मंतव्य प्रकट किया। उनके ऐसे विचार अनेक बार आते रहे हैं, जो सदा विचारणीय और करणीय ही होते हैं। इनके स्मरण भर से ही नव-स्फुरणा का एहसास होता है। यत्किंचित ही सही, कुछ करने को कदम भी उठते ही हैं। जो करणीय है—हम निरंतर करें, इसी सदाकांक्षा के साथ अभिवंदना—

मानसिक कष्ट हुआ, जब यह पढ़ा कि आंध्रप्रदेश में एक सौ से ज्यादा किसानों ने कर्ज न चुका सकने के कारण आत्महत्या कर ली। जिस राज्य में रोटी के अभाव में या किन्हीं विषम परिस्थितियों में लोग आत्महत्या करें—तो इस सारी स्थिति पर मानव जाति को विचार करना है कि हम अकेले सुख न भोगें। दूसरे दुखी हैं, ऐसे में अकेले सुख भोगें तो अच्छा नहीं है। यदि यही स्थिति रही तो एक दशक बाद क्या होने वाला है, उसका चित्र मेरे सामने है। बड़े-बड़े लोग चाहते हैं कि आतंकवाद न आए, अपहरण न हो, किंतु ये सारी बातें होने वाली हैं। यदि आज ही

→

होना चाहता है, दूर होना चाहता है। जिससे खतरा नहीं होता, उसकी उपेक्षा कर देता है। जो हितकर होता है, उसकी ओर आदमी जाना चाहता है, प्रवृत्ति करना चाहता है। हमारी प्रवृत्ति के, व्यवहार के ये तीन रूप हैं—निवृत्ति, प्रवृत्ति और उपेक्षा। इनके तीन हेतु हैं—हेय, उपादेय और उपेक्षणीय। हमारे जीवन का सारा व्यवहार इन तीनों में सिमट जाता है। यह सारा व्यवहार अनुभव के साथ, ज्ञान के साथ पैदा होता है। आदमी जानता है और जानने के बाद व्यवहार करता है। जिस वस्तु के बारे में हमारी जानकारी नहीं है, उसके बारे में हमारा कोई व्यवहार नहीं होता। व्यवहार जानने के बाद ही होता है।

सामने एक मोती पड़ा है, किंतु जिस व्यक्ति को मोती के बारे में कोई जानकारी नहीं है, वह उसके प्रति आकृष्ट नहीं होता। संस्कृत साहित्य में कहा जाता है—एक जंगली आदमी, आदिवासी या भील के लिए मोती का कोई महत्त्व नहीं होता। एक शेर आया और महान वैयाकरण को खा गया। उसके लिए वैयाकरण का कोई मूल्य नहीं है। उसके लिए तो वह मात्र खाने की चीज है। हमारे व्यवहार में वे ही चीजें आती हैं, जिनका मूल्य या अवमूल्य हमारी समझ में आ जाता है। बहुत सारी अमूल्य वनस्पतियां हैं। उनके बारे में हमारी कोई जानकारी नहीं है। वे हमारे लिए बेकार हैं। एक कुशल वैद्य उन्हें देखता है, उसकी आंखों में चमक आ जाती है। वह उन्हें देख कर मुग्ध हो जाता है। सोचता है—कितनी मूल्यवान और उपयोगी वनस्पतियां हैं! जो वनस्पतियां एक सामान्य आदमी के लिए मूल्यहीन होती हैं, वे एक वैद्य के लिए उपयोगी और मूल्यवान बन जाती हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र

भाषा और ज्ञान—ये दोनों हमारे व्यवहार के प्रवर्तक या नियामक हैं। हम जानते हैं और जानने के बाद व्यवहार करते हैं, किसी को कहते हैं—प्रवृत्त हो जाओ। किसी को कहते हैं—निवृत्त हो जाओ और किसी को कहते हैं—कोई बात नहीं, छोड़ो। धर्म को प्रवर्तक लक्षण माना गया है—**चोदनालक्षणो धर्मः**। कहा जाता है कि धर्म में प्रवृत्ति करो। अधर्म तुम्हारे लिए अहितकर है, इसलिए उससे निवृत्ति करो। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र सतत चल रहा है। ध्यान

सचेत हो जाएं तो आने वाली भयावह स्थिति को टाला जा सकता है।

तेरापंथ धर्मसंघ और उसके आचार्य की आप स्तुति करें, गुणगान करें, दीर्घायु की कामना करें—यह ठीक है। पर, मैं मानव-हित की बात को महत्त्व देना चाहता हूं। मैं मानव जाति के भविष्य को देख रहा हूं, भारत के भविष्य को देख रहा हूं। आज भी बड़े लोग, जिनके पास अरबों रुपयों की संपत्ति पड़ी है, वे कुछ भी ध्यान नहीं देंगे तो उनका बड़प्पन सुरक्षित रहने वाला नहीं है।

अहिंसा यात्रा में हमने अनुभव किया—यह देखा कि क्या स्थिति है और पांच वर्ष बाद क्या होने वाली है। उसके आधार पर सारा चित्र सामने है। अगर अभी संभल जाएं तो ठीक है। अगर नहीं संभले तो फिर प्रश्न आएगा कि अब क्या करें, कहां जाएं? यह एक व्यक्ति का प्रश्न नहीं है। सबका प्रश्न बन जाएगा कि अब कहां जाएं? कैसे सुरक्षित रहें?

इन सब बातों पर आप गहराई से विचार करें, चिंतन करें। कोरा 'प्रज्ञा-दिवस' नहीं मनाना है। हमें 'प्रज्ञा' का जागरण करना है। मैं तो चाहता हूं कि पंडाल में जितने लोग बैठे हैं, आज से ही संकल्प करें कि हमें तीसरा नेत्र खोलने की साधना करनी है, जिससे हमारी 'प्रज्ञा' का जागरण हो। जिनका नाम 'प्रज्ञा' है, वे न करेंगे तो नाम ही झूठा हो जाएगा। नाम को यथार्थ करना है। एक संकल्प करना होगा—हमें 'प्रज्ञा' को जगाना है।

मैंने अपने मन की बात कह दी है। आप लोग चिंतन करें। एक योजना बनाएं, तीन वर्ष की योजना बनाएं अथवा अगले वर्ष तक की योजना बनाएं कि मुझे भीतर में कितना परिवर्तन करना है और बाहर में कितना परिवर्तन करना है?

बाहर का परिवर्तन है—व्यवहार-कौशल। हमारा व्यवहार इतना अच्छा हो कि शत्रु भी आए तो मित्र बन जाए।

भीतर का परिवर्तन है—हम अपने कषायों—राग-द्वेष, कलह, कदाग्रह पर कैसे नियंत्रण करें? कैसे अणुव्रत प्रेक्षाध्यान, जीवनविज्ञान और अहिंसा प्रशिक्षण में अपनी शक्ति लगाएं? ●

करो और चंचलता को छोड़ो—यह एक प्रेरणा है। विवेक चंचलता को कम करने या छोड़ने की बात कहता है। आदमी उलझ जाता है। वह सोचता है—यदि चंचल प्रवृत्ति अथवा सक्रियता को कम कर दिया, तो हम निठल्ले बन जाएंगे। आज जो विकास हुआ है, वह बहुत कुछ चंचलता के कारण ही हुआ है। इतने पदार्थ, इतने संसाधन और उपकरण—ये सब ध्यान से बने हैं या चंचलता से बने हैं? निश्चय ही चंचलता से बने हैं। अगर सब ध्यान करने बैठ जाते, हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाते—तो न बहुमंजिली इमारतें बनतीं, न मोटरकार और हवाईजहाज बनते, खेती-बाड़ी भी नहीं होती। हिंदुस्तान में ध्यान का बहुत विकास हुआ, किंतु अगर पूरा देश ध्यानी बन जाता तो खाने के लिए फिर बाहर से ही मंगाना पड़ता।

चिंतन की भाषा

बड़ी समस्या है। एक ओर हम कहते हैं कि ध्यान करो, चंचलता को कम करो, निष्क्रिय बनो। दूसरी ओर हमारा सारा काम सक्रियता से चल रहा है, प्रवृत्ति की बहुलता से चल रहा है। आज का संसार इतना प्रवृत्ति बहुल हो गया है कि इसमें ध्यान की बात करना ही हास्यास्पद है।

आखिर करें क्या? रहना सचाई में है, किंतु जीना तो व्यवहार में है। जहां व्यवहार है, वहां प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपेक्षा—तीनों चलेंगे। कोरी निवृत्ति की बात वहां समझ में नहीं आती। इसीलिए सामान्य आदमी विवेक नहीं कर पाता, किंतु विवेक करने वाले भी दुनिया में होते हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य का सूत्र है—**क्षीर-नीर विवेकवत् यथा हंसः**—हंस दूध और पानी का विवेक कर देता है। यह हंसों के लिए कहा गया है, वैसे ही मछलियां भी दूध और पानी को अलग कर देती हैं। नींबू भी दूध और पानी को अलग कर देता है। यह विवेक है, विवेचन है, पृथक्करण है।

एक राजा किसी तपस्वी के पास गया और उन्हें नमस्कार किया। तपस्वी फक्कड़ स्वभाव का था। पता नहीं उसके मन में क्या आया कि उसने भी खड़े होकर राजा को नमस्कार किया। जिन्होंने यह देखा, उनकी समझ में बात आई नहीं। राजा तो संन्यासी को नमस्कार करता है—यह व्यावहारिक बात है, किंतु कोई तपस्वी-त्यागी व्यक्ति राजा को नमस्कार करे—यह सर्वथा विपरीत बात है। पूछा गया—'महात्मन! राजा ने आपको नमस्कार किया—यह तो ठीक बात है, किंतु आपने भी उठ कर नमस्कार किया, क्यों? इसका रहस्य क्या है?'

संन्यासी ने प्रतिप्रश्न किया—'राजा ने मुझे नमस्कार क्यों किया?'

कहा गया—'आप त्यागी-तपस्वी हैं, इसलिए नमस्कार किया।'

—'मैं त्यागी हूं, किंतु राजा तो महात्यागी है, इसलिए मैंने नमस्कार किया।' संन्यासी ने उत्तर दिया।

—'राजा, महात्यागी कैसे हुआ?'

संन्यासी बोले—'मेरी बात ध्यान से सुनो। मैंने संसार को छोड़ा है, पदार्थ को छोड़ा है, नश्वर चीज को छोड़ कर अविनाशी आत्मा को पाने का प्रयत्न किया है। मैंने तो नश्वर को छोड़ कर अनश्वर को पाने का प्रयास किया है, किंतु यह राजा तो भोगों के संसार में फंसा हुआ है। इसने शाश्वत और अविनश्वर तत्त्व को छोड़ कर नश्वर और अशाश्वत तत्त्व को अपनाने का कार्य किया है। बताओ, त्याग मेरा बड़ा है या इस राजा का?'

विकसित होने का मापदंड

बहुत बड़ा प्रश्न हमारे सामने है। एक ओर नश्वर के लिए अविनश्वर और शाश्वत को त्यागना, दूसरी ओर अविनश्वर और शाश्वत के लिए नश्वर और अशाश्वत को त्यागना। जो लोग पदार्थवादी हैं और पदार्थ की दृष्टि से ही सारी उन्नति, सभ्यता और संस्कृति का माप करते हैं—उनकी दृष्टि में केवल पदार्थ का ही मूल्य है। उनकी दृष्टि में पदार्थ ही विकसित होने का मापदंड है।

पूरी मानव जाति का विभाजन केवल पदार्थ के विकास के आधार पर हुआ है, मूल बात को भुला दिया गया।

विकास : मूल अवधारणा

मूल बात यह है कि हमारा भावनात्मक और मानसिक विकास कितना हुआ है? यह विडंबना ही है कि इनके विकास को आज के युग में कोई मूल्य नहीं दिया गया। प्रश्न है—ऐसा क्यों होता है? जब तक हम मानसिक और भावनात्मक विकास को विकास की सीमा में नहीं लाएंगे, तब तक मनुष्य जाति को दुष्परिणाम भुगतने ही पड़ेंगे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि आर्थिक विकास या पदार्थ-विकास जरूरी नहीं है। वह जरूरी है, किंतु व्यवहार को चलाने के लिए जितना चाहिए, उतना जरूरी है। इतना ही जरूरी मानसिक और भावनात्मक विकास भी है। पूरी मानव जाति की पीड़ा और वेदना को समझें तो ऐसा प्रतीत होगा कि यह एक बड़ी करुण कहानी है।

पदार्थ और चेतना, ये दो बातें हैं। पदार्थ का संचालक, नियामक और प्रवर्तक चेतना है। पदार्थ का निर्माण करने वाली चेतना है। कंप्यूटर चाहे जितना विकसित हो गया हो, पर उसका निर्माण करने वाली चेतना है। चैतन्य के बिना कोई निर्माण नहीं हो सकता। हमने निर्माता को तो बिल्कुल भुला दिया और निर्मित वस्तु को पकड़ कर बैठ गए। कर्ता को भुला दिया और कृति में उलझ गए।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोजन है—पदार्थ और चेतना का विवेक करना। यह स्पष्ट समझ लेना कि पदार्थ, पदार्थ है और चेतना, चेतना। हम केवल पदार्थ के विकास के आधार पर मानव जाति को नहीं बांटें, इसके साथ चेतना को भी जोड़ें। जिसकी चेतना जाग्रत नहीं है, जिसकी चेतना में कषाय, क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि प्रबल हैं—वह राष्ट्र पदार्थ की दृष्टि से चाहे कितना ही विकसित हो गया हो, उस राष्ट्र को विकसित कहने में बहुत कठिनाई है। एक राष्ट्र विकसित तो कहलाता है, किंतु यदि वह एक मानव से घृणा करता है—रंगभेद के आधार पर, गोरे और काले के आधार पर—तो उस राष्ट्र को विकसित कहने में कठिनाई है। अतः जब तक चेतना के स्तर पर मानदंड तय नहीं होंगे, मूल्य की हमारी सारी कसौटियां गलत हो जाएंगी। मूल्य का प्रश्न आज महत्त्वपूर्ण बन रहा है, किंतु जब तक चेतना को सामने रख कर हम मूल्य का निर्धारण नहीं करेंगे, केवल पदार्थ के आधार पर मूल्य की मीमांसा करेंगे तो हमारा सारा विकास गलत साबित होगा।

ध्यान का अर्थ है—जीवन की नई व्याख्या करना। हमें जीवन की नई व्याख्या करनी होगी, मूल्यों की नई व्याख्या करनी होगी। उसका सूत्र यह है कि जहां आर्थिक विकास, पदार्थ का विकास, भौतिक विकास हो रहा है, वहां उसके साथ-साथ हमारी चेतना का भी विकास हो। जब चेतना का विकास होगा—तब जाति, रंग और अर्थ के आधार पर आदमी आदमी से घृणा नहीं करेगा। यह दृष्टिकोण विकसित होगा, तो पदार्थ के अभाव में भी मानव समाज को विकसित कहा जा सकेगा। ❖

बाह्य देह और भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तु का दुहरा रूप है। कर्म में ही यही बात है। बाहरी फल कर्म का शरीर है और कर्म की बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है, वह उस कर्म का आत्मा है। स्वधर्माचरण का बाहरी फलरूप शरीर छोड़कर भीतरी चित्त-शुद्धित रूप सारभूत आत्मा को हम ग्रहण करें। इस प्रकार देह को हटाकर प्रत्येक वस्तु का सार ग्रहण करने की सारग्राही दृष्टि हमें प्राप्त कर लेनी चाहिए।

देह से अपने को अलग रखकर दोषों से मुक्त होने का प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देह रूपी साधन से मैं पृथक हूं, मैं स्वामी हूं, इस देह से काम कराने वाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेने वाला हूं। बचपन से ही इस प्रकार देह से अलग होने की वृत्ति सिखानी चाहिए।

'यह देह मैं नहीं, वह परमात्मा मैं हूं' यह भाव मन में जम जाएगा, उसी क्षण मनुष्य के मन में एक प्रकार का अनुभूत आनंद लहराने लगेगा। इस देह से परे अविनाशी और निष्कलंक जो आत्मतत्व है, वही मैं हूं। उस आत्मतत्व के लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब उस परमेश्वरीय तत्व के दूषित हो जाने की संभावना होगी, तब-तब मैं उसे बचाने के लिए इस देह को फेंक दूंगा। देह पर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मैं इस देह का उपयोग करूंगा और इसके द्वारा हित-मंगल की वृद्धि करूंगा। काम के लिए इस देह की जरूरत है। जिस समय यह देह काम के लायक नहीं रह जाएगी, उस समय इसे फेंक देने में कोई हर्ज नहीं।

सत्याग्रह के द्वारा हमें यही शिक्षा मिलती है। देह और आत्मा, ये अलग-अलग चीजें हैं। जिस दिन मनुष्य के यह ध्यान में आएगा, उसी दिन उसकी सच्ची शिक्षा की, वास्तविक विकास की शुरुआत होगी।

जब तक हम यह नहीं समझ लेंगे कि देह से मैं अलग हूं, तब तक जालिम लोग हम पर जुल्म ढाते रहेंगे। 'मैं देह हूं'—इस भावना के कारण ही दूसरों को मुझ पर जुल्म करने की इच्छा होती है। जब तक देह की आसक्ति है, तब तक सतत डर लगा रहेगा।

— **विनोबा भावे**

परिवर्तना : ज्ञान को स्मृति में रखने का सशक्त उपाय

युवाचार्यश्री महाश्रमण

शास्त्रकारों ने कहा है कि परिवर्तना से व्यंजन-लब्धि उत्पन्न हो जाती है। जो व्यक्ति ध्यान से पाठ का उच्चारण करता है और साथ में अर्थ की गहराई में भी जाता है, उसमें प्रज्ञा का कुछ विकास हो सकता है और चिंतन करते-करते कोई नई बात भी ध्यान में आ सकती है। हम साक्षात देख सकते हैं कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सरस्वती की साधना की और आज भी वे यह कर रहे हैं। अपने विभिन्न दायित्वों से प्रतिबद्ध होने के बावजूद भी वे स्वाध्याय में समय लगाते हैं और कुछ नया प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। क्यों? क्योंकि ज्ञान ही आनंद है। ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद आदमी और कुछ पाने का प्रयास करेगा, यह जिज्ञासा वृत्ति अपने आप में स्तुत्य है, पर इसे पाने की विधि एक ही है—परिवर्तना।

स्वाध्याय और अध्ययन के विभिन्न प्रकारों में एक प्रकार है—परिवर्तना। प्राचीन काल में कंठस्थ-ज्ञान की अच्छी परंपरा थी। ज्ञान साधकों के कंठ में विपुलमात्रा में स्थित रहता था, उनकी स्मृति में रहता था। ज्ञान को स्मृति में रखने का एक सशक्त उपाय है—परिवर्तना। आर्हत वांगमय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें *अध्ययन* में एक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया—**परियट्टणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**—'भंते! परिवर्तन करने से जीव को क्या मिलता है?' उत्तर दिया गया—**परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ वंजणलद्धिं च उप्पाएइ।**—'परिवर्तन करने से वह व्यंजन को प्राप्त करता है।' स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि को प्राप्त कर लेता है।

आज भी साधु-परंपरा में ज्ञान को कंठस्थ करने का चलन है। हालांकि इसमें कुछ कमी आई है, क्योंकि अब पुस्तकें सहजता से सुलभ हो जाती हैं। लिपि कला के विकास और पुस्तकों की सुलभता ने भी संभवतः इसे आगे बढ़ाया है। पहले रात्रि में भी पुस्तकों का उपयोग नहीं हो पाता था। आजकल प्रायः प्रकाश सुलभ हो जाता है, इसलिए पुस्तकों का उपयोग भी आसानी से हो सकता है।

ज्ञान को कंठस्थ करना और उसे 'चितारना'—यानी—परिवर्तना, यह एक सुंदर विधा है। मेरा स्पष्ट मत है कि आज भी कुछ ग्रंथ हमें कंठस्थ रखने चाहिए। ग्रंथ कंठस्थ रह सकें, ऐसा पराक्रम हमें करना चाहिए। 'दसवें आलियं' एक सुंदर आगम है, जिसमें दिशा-निर्देश दिया गया है कि साधु को कैसे चलना चाहिए, कैसे भिक्षा करनी चाहिए, कैसे आहार करना चाहिए, कैसे बात करनी चाहिए, मानसिक विचलन की स्थिति में कैसे चिंतन करना चाहिए। इस ग्रंथ में पथ-दर्शन के सुंदर सूत्र दिए गए हैं। उत्तराध्ययन भी बहुत रोचक आगम ग्रंथ है। उसमें तत्त्व विद्या निहित है। व्यवहार के सूत्र हैं, वैराग्यपूर्ण कथाएं हैं, सुंदर प्रश्नोत्तर हैं

और अध्यात्म विद्या का उसमें सुंदर पथ-दर्शन है। ये आगम हमें संपूर्ण रूप से कंठस्थ हों तो यह बहुत ही अच्छी बात होगी।

हम इनका स्वाध्याय भी करें और केवल पाठ ही उच्चरित न करें, हमें इनका अर्थबोध भी हो। फिर अनुप्रेक्षा करें, चिंतन-मनन करें। इससे आध्यात्मिक आनंद मिलेगा, संयम को पोषण मिलेगा और कर्म निर्जरा का अवसर भी मिलेगा।

यह सर्वविदित है कि अभ्यास के बिना ज्ञान कंठस्थ नहीं रह सकता। गुरु ने अपने शिष्य से कहा—वत्स! मैं कुछ प्रश्न पूछूंगा, तुम्हें उनका जवाब देना है। एक बात का ध्यान रखना कि मैं जितने भी प्रश्न पूछूं, उन सबका जवाब एक होना चाहिए। यानी प्रश्न अनेक, जवाब एक। शिष्य ने कहा—गुरुदेव! आप फरमाइए, कौनसे प्रश्न हैं? गुरु ने काव्य की भाषा में पूछा—

पान सड़ै घोड़ो अड़ै, विद्या बिसर जाय।
रोट जले अंगार पर, कहो चेला किण न्याय।।

'वत्स! पान सड़ते क्यों हैं, घोड़ा अच्छी तरह क्यों नहीं चल सकता, वह रुक क्यों जाता है? विद्या विस्मृत क्यों हो जाती है, रोटी अंगारे पर क्यों जल जाती है?'—इन सबका एक उत्तर क्या हो सकता है? शिष्य बहुत चतुर, बुद्धिमान और समझदार था। उसने कहा—गुरुदेव! इन सबका उत्तर एक है—फेरा नहीं, यानी परिवर्तना नहीं की। पान की परिवर्तना की जाती, तो सड़ते नहीं। वे पड़े-पड़े खराब हो गए। घोड़े को फिराया-घुमाया जाता तो उसका अभ्यास बना रहता। घुमाने का क्रम नहीं रहने से उसमें चलने का अभ्यास कम हो गया। रोटी को अंगारे पर बदला जाता, तो ठीक हो जाती, एक ही तरफ पड़ी रहने से वह जल गई। इसी प्रकार विद्या को भी पूरा जाए, यानी बार-बार उसका पुनरावर्तन किया जाए, तो वह स्मृतिगत रहती है। अन्यथा विद्या भी विस्मृतिगत हो जाती है।

परिवर्तना को नियमित और ठीक रखने के लिए अपेक्षा है कि हमारे उठने का समय ठीक हो, यानी जल्दी उठने का अभ्यास होना चाहिए। सर्दी के मौसम में उठने में थोड़ी तकलीफ हो सकती है। सर्दी लग सकती है, किंतु सर्दी का भी थोड़ा सामना करें। सर्दी उसको ज्यादा सताती है, जो सर्दी से घबराता है, डरता है। जो सर्दी का सामना करता है, उससे सर्दी दूर भागने लगती है। हम स्थितियों से डरें नहीं। अपना करणीय कार्य यथासंभव संपन्न करने का प्रयास करें। अगर हम यह नित्यक्रम बना लें कि मौसम चाहे कोई भी क्यों न हो, मुझे तो आमतौर से सुबह चार बजे जगना ही है, तो फिर जगा जा सकता है। वह समय स्वाध्याय के लिए सर्वथा उपयुक्त समय है। वह समय स्वाध्याय में बीते, परिवर्तना में बीते, जप में बीते, ध्यान में बीते—तो समय कितना सार्थक हो जाएगा!

शास्त्रकारों ने कहा है कि परिवर्तना से व्यंजन-लब्धि उत्पन्न हो जाती है। जो व्यक्ति ध्यान से पाठ का उच्चारण करता है और साथ में अर्थ की गहराई में भी जाता है, उसमें प्रज्ञा का कुछ विकास हो सकता है और चिंतन करते-करते कोई नई बात भी ध्यान में आ सकती है। हम साक्षात देख सकते हैं कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सरस्वती की साधना की और आज भी वे यह कर रहे हैं। अपने विभिन्न दायित्वों से प्रतिबद्ध होने के बावजूद भी वे स्वाध्याय में समय लगाते हैं और कुछ नया प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। क्यों? क्योंकि ज्ञान ही आनंद है। ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद आदमी और कुछ पाने का प्रयास करेगा, यह जिज्ञासा वृत्ति अपने आप में स्तुत्य है, पर इसे पाने की विधि एक ही है—परिवर्तना।

परिवर्तना के समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि हमारा उच्चारण शुद्ध हो, धीरे-धीरे बोलें, स्पष्ट बोलें और विराम लेकर बोलें। स्वाध्याय में बहुत तेज रफ्तार नहीं चल सकती। गति थोड़ी मंद होनी चाहिए। जल्दी-जल्दी उच्चारण करने से अनेक पाठों का एक साथ मिलने की संभावना रहती है। जिससे ज्ञान के अतिचार की स्थिति बन सकती है और विशुद्ध ज्ञान में बाधा भी आ सकती है। स्वाध्याय के लिए अवस्था (वय) का भी कुछ महत्त्व होता है। कुछ कारणों से हर कोई स्वाध्याय न भी कर सके, किंतु अध्यवसाय हो तो स्वाध्याय-परिवर्तना हो सकती है। बाल-मुनियों के लिए तो परिवर्तना करना विशेष आवश्यक है। परिवर्तना नहीं करने से 'विस्मृति-का-पाडा' ज्ञान को खा सकता है। एक घटना द्रष्टव्य है—एक बुढ़िया मूंज की डोरी बंट रही थी। वह प्रज्ञाचक्षु थी। उस समय एक पाडा (भैंस का बच्चा) पास में खड़ा हो गया। बुढ़िया जैसे-जैसे डोरी बंट कर पीछे डाल रही थी, पाडा उसे खाता गया। बुढ़िया का सारा श्रम उस पाडे के काम आ गया। इसलिए हम सावधान रहें कि कभी 'विस्मृति-का-पाडा' हमारे ज्ञान को खा न जाए।

स्वाध्याय से कभी-कभी ऐसी प्रेरणा भी मिल सकती

है, जो जीवन की दिशा और दशा को बदलने वाली होती है। जैन परंपरा में एक महान आचार्य वृद्धवादी हुए हैं। उनका पहले नाम था—मुनि मुकुंद। वे ब्राह्मण वंश के थे। वृद्धावस्था में वैराग्य भाव जगा और अनुयोगधर आचार्य स्कंदिल के पास जैन मुनि दीक्षा स्वीकार कर ली। नवदीक्षित वृद्ध मुनि मुकुंद में ज्ञानार्जन की तीव्र उत्कंठा थी। वे प्रहर रात्रि बीत जाने के बाद भी उच्च स्वर से ज्ञान की परिवर्तना-स्वाध्याय करते। एक दिन गुरु ने मुनि मुकुंद से कहा—वत्स! तुम उच्च स्वर से रात्रि में स्वाध्याय करते हो, इससे अन्य साधुओं की नींद में बाधा पहुंचती है। यह अंतराय कर्म-बंध का कारण बन सकता है। इससे हिंसक प्राणी भी जाग सकते हैं, इससे अनर्थ की संभावना भी हो सकती है। इसलिए तुम ध्यान दो। मुनि मुकुंद ने गुरु से प्रशिक्षण प्राप्त कर दिन में स्वाध्याय करना प्रारंभ कर दिया। वृद्धावस्था में भी ज्ञानाराधना के प्रति इतनी लगन व निष्ठा को देख, किसी श्रावक ने कहा—मुनिवर! इस वृद्धावस्था में इतना स्वाध्याय करके क्या मूसल में फूल लगाओगे? यह बात मुनि मुकुंद के हृदय में चुभ गई। उन्होंने उस चुनौती को स्वीकार कर लिया। मुनिजी ने ब्राह्मी विद्या की आराधना में इक्कीस दिन का तप किया, साधना की। देवी प्रसन्न होकर प्रकट हुई और बोली—**सर्वविद्यासिद्धो भव।**—मुनि मुकुंद दैविक वरदान प्राप्त कर विद्या-संपन्न बन गए। फिर चौराहे पर बैठ सबके सामने मूसल को धरती पर रोप कर मुनि मुकुंद बोले—

अस्मादृशा अपि यदा भारती! त्वत्प्रसादतः।
भवेयुर्वादिनां प्राज्ञा मुसलं पुष्यतां ततः।।

भारती! तुम्हारी कृपा से मेरे जैसे व्यक्ति भी वादीजनों में प्राज्ञ का स्थान प्राप्त कर सकते हैं, तो अब मूसल के फूल लगा दो। यह कह कर मुनिजी ने अचित्त जल का सिंचन किया और उपरिलिखित श्लोक बोला। मूसल (ठूंठ) के तत्काल फूल लग गए। यह अध्यवसाय का फल है।

हमें अपने ज्ञान के अध्यवसाय को विकसित करने की अपेक्षा है। हमारे साधु-साध्वियां, समण-समणियां ज्ञान के आराधक बनें। विद्वान तैयार हों, मनीषी तैयार हों और वे अपने ज्ञान को विभिन्न भाषाओं के माध्यम से लोगों तक पहुंचाएं। शास्त्रकार ने कहा है कि ज्ञान करते-करते ऐसी शक्ति प्राप्त हो सकती है कि एक पद्य को पढ़ने से अनेक पद्यों का ज्ञान हो सकता है। पुस्तक का एक पृष्ठ पढ़ने से उस पुस्तक में क्या बात है, उसका अनुमान हो सकता है। थोड़ा-सा पढ़ने से अधिक ज्ञान प्राप्त हो जाए—ऐसी अनेक शक्तियां हैं, लब्धियां हैं। ज्ञान एक ऐसा परम तत्त्व है, जिसके समान अन्य कोई वस्तु पवित्र नहीं है। ज्ञान का सार आचार है। जिसके पास सम्यक्-ज्ञान नहीं है, उसके पास सम्यक्-आचार कैसे और कितना आ पाएगा? यदि ज्ञान सम्यक् है, तो सम्यक्-आचार की प्राप्ति हो सकती है।

गुरुदेवश्री तुलसी द्वारा विरचित **पंचसूत्रम्** नामक ग्रंथ पढ़ाया जा रहा था। उसमें कहा गया—**सेवा ज्ञानफलं महत्**—मैं वहां रुक गया और सोचने लगा कि सेवा ज्ञान का फल कैसे होता है? चिंतन करने पर मुझे लगा कि जैसे ज्ञान का सार आचार है, वैसे ही ज्ञान का सार सेवा भी है। क्योंकि जब व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि सेवा करने से निर्जरा होती है, तब वह सेवा में संलग्न हो सकता है। ज्ञान एक वृक्ष है, उसके अनेक फल लगते हैं। फल प्राप्ति के लिए हम ज्ञान की परिवर्तना करते रहें, उसकी आराधना करते रहें। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

खुली आंख से सपना देखता एक युगद्रष्टा

❑

डॉ. सोहनराज तातेड़

सत्य की खोज वैज्ञानिक भी करता है तथा आत्म-साधक भी करता है। वैज्ञानिक पदार्थ जगत के सत्य की खोज में स्थूल से सूक्ष्म में जाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी आत्मा के प्रयोगों में स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। अभ्यास के बिना कोई प्रयोग पक नहीं सकता। सत्य की खोज के लिए निरंतर प्रयोग जारी रहें—ऐसी मान्यता थी आचार्यश्री तुलसी की।

आचार्यश्री तुलसी बाह्य पवित्रता के साथ आंतरिक जगत की पवित्रता को विशेष महत्त्व देते थे। आंतरिक जगत में प्रवेश के लिए वे कायोत्सर्ग को बहुत उपयोगी साधन मानते थे। वे स्वयं कायोत्सर्ग का निरंतर अभ्यास करते थे। कायोत्सर्ग के निरंतर अभ्यास से उनकी कायगुप्ति सध गई थी। तभी वे 4-5 घंटे एक ही आसन में बैठे रह सकते थे। आंतरिक शुद्धि के लिए 'जाप' को बहुत अच्छा माध्यम मानते थे। पूर्ण एकाग्रता से नियमित रूप से लगातार किए गए 'जाप' से भाव-शुद्धि होती है तथा व्यक्ति वचन-सिद्ध भी हो सकता है।

योग्यता का संबंध वय से नहीं है। कोई व्यक्ति कितना मेधावी है, उसमें कैसी प्रशासनिक क्षमता है और वह कितना अनुशासनप्रिय है—योग्यता की कुछ ऐसी कसौटियां सर्वमान्य हैं। आचार्यश्री तुलसी ऐसी ही क्षमताओं, योग्यताओं के धनी पुरुष थे। प्रारंभ में ही उनमें ये गुण नजर आने लगे थे। आप युग-द्रष्टा, युग-स्रष्टा थे। युग की नब्ज को अच्छी तरह से जानने-समझने वाले युगपुरुष थे। तभी आप युगप्रधान भी कहलाए। जैन धर्म को जन-धर्म बनाने की अभीप्सा रखने वाले हाड़-मांस के इस पुतले का व्यक्तित्व बहुत विशाल था। गुलामी से मुक्त होने के लिए देश में आजादी का बिगुल बज रहा था। सत्याग्रह एवं अहिंसा के माध्यम से देश की जनता को आजादी दिलाने के लिए महात्मा गांधी कड़ा संघर्ष कर रहे थे। आचार्यश्री तुलसी भी अहिंसा के पुजारी थे। तेरापंथ जैसे विशाल धर्मसंघ के आचार्य होकर भी आपका हृदय मानवीय संवेदनाओं से ओत-प्रोत था। महात्मा गांधी और आचार्यश्री तुलसी की विचारधारा एक-दूसरे से काफी मेल खाने वाली थी। वे मानवता के मसीहा थे। आचार्यश्री तुलसी की स्पष्ट मान्यता थी—

सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से
राष्ट्र स्वयं सुधरेगा।

विश्व की सबसे छोटी इकाई मनुष्य को वे सुधारना चाहते थे। आचार्यश्री तुलसी की मान्यता थी कि नैतिकता एवं आध्यात्मिकता एक ही सिक्के के दो पहलू

दस जून : महाप्रयाण : पुण्य स्मरण

हैं। नैतिक बने बिना व्यक्ति धार्मिक भी नहीं बन सकता। वे धर्म को किसी मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा का विषय नहीं मान कर उसे कार्यालय, दूकान एवं मनुष्य-मनुष्य की कर्मभूमि में प्रत्यक्षतः उतारना चाहते थे। आचार्यश्री तुलसी कहा करते थे—नैतिक व्यक्ति किसी का भी शोषण नहीं कर सकता है, किसी का अहित नहीं कर सकता है और अप्रामाणिक नहीं हो सकता। इसीलिए नैतिक मूल्यों की स्थापना को वे पहला काम मानते थे। महात्मा गांधी के सपनों का भारत बनाने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने एक मार्च सन् 1949 को 'अणुव्रत आंदोलन' की स्थापना की। उनका यह अणुव्रत दर्शन वर्ण, जाति, भाषा, धर्म, लिंग और प्रादेशिकता से मुक्त था। अणु का अर्थ छोटा और व्रत का अर्थ नियम—इस तरह छोटे-छोटे नियमों को धारण कर नैतिकता, प्रामाणिकता, सादगी, प्रसन्नता एवं शांति का जीवन जीना अणुव्रत का प्रमुख उद्देश्य माना गया। आचार्यश्री तुलसी ने जब भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेंद्र बाबू के सामने—'अणुव्रत' की अवधारणा प्रस्तुत की तो राष्ट्रपतिजी ने उन्हें भी अणुव्रत का सदस्य बनाने की इच्छा जाहिर की। आचार्यश्री तुलसी ने कहा—'मैं आपको अणुव्रत का सदस्य नहीं, अणुव्रती बनाना चाहता हूं।' इस प्रकार माना जा सकता है कि राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसादजी पहले अणुव्रती बने। अणुव्रत के माध्यम से भारत की जनता में नैतिकता की लौ प्रज्वलित हुई। अणुव्रत ने आचार्यश्री तुलसी को एक 'राष्ट्रसंत' एवं जैन धर्म तथा तेरापंथ को जन-धर्म की पहचान दी।

आचार्यश्री तुलसी खुली आंखों से सपना देखते थे। फिर उसे पूरा करने में सक्रिय हो जाते थे, जो-जो सपने आपने देखे—उनको पूरा किया। आपका संकल्प और मनोबल बहुत दृढ़ था। विकट परिस्थिति में भी वे कभी निराश नहीं होते थे। वे कहा करते थे—चिंता नहीं चिंतन करो, व्यथा नहीं व्यवस्था करो, प्रशंसा नहीं प्रस्तुति करो।

अनुशासनहीनता किसी भी स्तर पर आपको पसंद नहीं थी। आप एक नारियल की तरह कुशल प्रशासक थे। साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका समुदाय को उनकी गलती के प्रति सचेत करने तथा चतुर्विध-धर्मसंघ के कार्यों का मूल्यांकन करने में वे सदैव सजग रहते थे। गलती के लिए प्रायश्चित्त तथा प्रगति के लिए वे प्रोत्साहन, प्रशंसा एवं अलंकरण भी प्रदान करते थे। आपके शासनकाल में अनेक कार्यकर्ताओं का निर्माण हुआ। आज भी जीवनदानी कार्यकर्ता के रूप में वे संघ की सेवा कर रहे हैं। आप एक कुशल लेखक, साहित्यकार, वक्ता और गीतकार थे, तो साथ-साथ दर्शन के गूढ़ रहस्यों को सुलझाने वाले द्रष्टा और विचारक भी थे। जैनागमों के संपादन जैसा विशिष्ट एवं दुरूह कार्य भी अपने हाथों में लेकर आपने इस महती कार्य को गति प्रदान की। आगमों का संपादन शायद ही वर्तमान के किसी जैनाचार्य ने किया हो। जैन आगमों का हिंदी में सरल विवेचन कर आपने उन्हें आम आदमी के लिए पठनीय बना दिया। आगम मंथन प्रतियोगिताओं में इसीलिए समाज का रुझान लगातार बढ़ रहा है और स्वाध्याय के नए वातायन खुल रहे हैं। आगम संपादन के काम में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी एवं युवाचार्यश्री महाश्रमणजी आज भी निरंतर गतिशील हैं।

आम आदमी के भावात्मक विकास के लिए आप लगातार चिंतित रहते। तभी आपने तत्समय के युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ को 'ध्यान-साधना' के प्रति लुप्त पिपासा को पुनः जाग्रत करने हेतु शोध करने का निर्देश दिया। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्राचीन जैन आगमों के आधार पर मेडिकल साइंस का समावेश कर आचार्य तुलसी के सामने ध्यान-साधना की पूरी योजना रखी। 'प्रेक्षा-ध्यान' के नाम से प्रचलित ध्यान-पद्धति सन् 1975 में सामने आई और आज पूरे विश्व में 'प्रेक्षा-ध्यान' पद्धति शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक स्वास्थ्य की विश्वसनीय पद्धति के रूप में प्रख्यात हो चुकी है। विश्व के हर वर्ग के लोग इस पद्धति के उपयोग से लाभान्वित हो रहे हैं और प्रसन्नता एवं शांति का जीवन जी रहे हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने महसूस किया कि वर्तमान शिक्षा विद्यार्थी को अपने-अपने क्षेत्र में बौद्धिक तो बना देती है, लेकिन भावात्मक पक्ष—यानी भाव-शुद्धि—का उसमें कोई स्थान नहीं है। आचार्यश्री तुलसी ने महसूस किया कि एक पढ़ा-लिखा बौद्धिक व्यक्ति आत्महत्या क्यों करता है? वह तनाव में क्यों आता है? उन्होंने पाया कि विद्यालयों-महाविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है, उसमें भावात्मक समझ को बढ़ाने के लिए कोई जगह नहीं है। इसी बात को लेकर आचार्यश्री तुलसी एवं तत्समय में युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने शिक्षा-पाठ्यक्रम के साथ 'जीवनविज्ञान' पद्धति को जोड़ने की पेशकश की। जीवनविज्ञान आचार्यश्री तुलसी एवं वर्तमान आचार्यश्री

महाप्रज्ञजी का मानव-जाति को बहुत बड़ा अवदान है। जीवनविज्ञान में हमें प्रेक्षा-ध्यान, अणुव्रत, अहिंसा के सिद्धांतों का समावेश मिलता है।

दीक्षा से पूर्व साधु-जीवन की शिक्षा का यह उपक्रम पारमार्थिक शिक्षण संस्था एवं समण श्रेणी का सूत्रपात भी आचार्यश्री तुलसी के विशिष्ट अवदानों में से एक है। यह एक मार्च 1949 को स्थापित हुआ। इसी तरह वर्ष 1980 में साधु एवं श्रावक के बीच की कड़ी समण-श्रेणी की स्थापना की गई। आपके इस निर्णय का प्रारंभ में कड़ा विरोध हुआ, लेकिन आज देश-विदेश में समण-श्रेणी की योग्यता एवं उपयोगिता को देख कर पूरा जैन जगत दांतों तले अंगुली दबाता है। मानव मात्र को **संयमः खलु जीवनम्** का छोटा-सा घोष देकर आपने मानव-जाति को तनाव, विषाद एवं निराशा से उबारा है। क्रिया-कांडों और मात्र साधु-वस्त्रों में वे धर्म नहीं मानते थे, बल्कि उनकी स्पष्ट मान्यता थी—**आत्म शुद्धि साधनम् धर्मः**—आत्म शुद्धि के साधन को धर्म कहते हैं, फिर उसका नाम जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई या इसलाम धर्म—कुछ भी हो सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने 60 वर्ष तक आचार्यपद का कुशल संचालन किया। वे स्व-नियंत्रण, संयम, आत्मबल, अनुशासन एवं आध्यात्मिकता पर बहुत बल देते थे। उनका मनोबल इतना मजबूत था कि प्रतिदिन 16 घंटे अनवरत कार्य करते हुए भी कभी थकते नहीं थे। उन्होंने अपने जीवन में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के संतुलन को आत्मसात कर लिया था।

आपकी साधना इतनी निर्मल थी कि जो भी वचन फरमाते वह प्रायः सिद्ध हो जाता था। इसी कारण श्रावक-वर्ग की आप में अटूट श्रद्धा थी। आपकी मूरत बहुत मोहनीय थी। आंखों से अमृत बरसता था। स्नेह भरी आंखों से किसी की तरफ एक बार भी आप निहार लेते तो वह धन्य हो जाता था। निरंतर चलते रहने का लक्ष्य लेकर महलों से झोंपड़ियों तक लाखों किलोमीटर की पदयात्रा कर मानव जाति में अहिंसा, संयम एवं नैतिकता की अलख जगाई।

साधु-साध्वी समाज को शिक्षित, प्रशिक्षित करने के लिए आप प्रतिदिन भिन्न-भिन्न प्रयोगों के माध्यम से अध्यापन करवाते थे। आप उच्चारण शुद्धि पर बहुत बल देते थे। एक-एक साधु का उच्चारण शुद्ध करवाने के लिए घंटों-घंटों तक स्वयं उच्चारण कर-कर उस साधु को शुद्ध-उच्चारण सिखाते। वाक्-पटुता आप में गजब की थी। जो भी व्यक्ति आपके संपर्क में आता, आपकी वाणी से निकले वचन को खाली नहीं जाने देता, उसकी क्रियान्विति करता। एक बार संपर्क में आने वाला व्यक्ति आपके शुद्ध आभामंडल से प्रभावित होकर हमेशा के लिए आपका भक्त बन जाता तथा पुनः दर्शनों को लालायित रहता।

आचार्यश्री तुलसी प्रयोगधर्मा थे। वे कहा करते थे—'बिना प्रयोग के परिवर्तन संभव नहीं हो सकता। बिना प्रयोग के की गई साधना रूढ़ एवं मात्र औपचारिक हो जाती है। लंबे समय तक साधना करने के बाद भी लोगों की जीवन-शैली व स्वभाव में यदि परिवर्तन नहीं आता है तो इसका कारण है कि साधना प्रयोगपूर्वक नहीं की जा रही है। उदाहरण के तौर पर किसी व्यक्ति को क्रोध ज्यादा आता है, तो क्रोध के प्रतिद्वंद्वी क्षमा को क्रोध के सामने खड़ा किया जाए। क्षमा-विकास के विभिन्न प्रयोग किए जाएं। क्षमा की अनुप्रेक्षा बार-बार की जाए। इन प्रयोगों से व्यक्ति का क्रोध एक दिन अवश्य उपशांत हो जाता है।'—आचार्यश्री तुलसी कहते थे—'उपशम का साधु जीवन में सबसे बड़ा स्थान है, अतः इसकी उपासना होनी चाहिए। जब कभी आवेग आए तो—**उवसेमण हणे सोहं**—इसका चिंतन करना चाहिए और आवेग को शांत करते रहना चाहिए। प्राणायाम और संकल्प शक्ति से मन को एकाग्र करने का प्रयास करते रहना चाहिए। लक्ष्य को सफल बनाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए। 'मन को समाधिस्थ, तन को स्वस्थ एवं वचन को संयत रखना चाहिए—यही साधना का मार्ग है।'

सत्य की खोज वैज्ञानिक भी करता है तथा आत्म-साधक भी करता है। वैज्ञानिक पदार्थ जगत के सत्य की खोज में स्थूल से सूक्ष्म में जाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी आत्मा के प्रयोगों में स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। अभ्यास के बिना कोई प्रयोग पक नहीं सकता। सत्य की खोज के लिए निरंतर प्रयोग जारी रहें—ऐसी मान्यता थी आचार्यश्री तुलसी की।

आचार्यश्री तुलसी बाह्य पवित्रता के साथ आंतरिक जगत की पवित्रता को विशेष महत्त्व देते थे। आंतरिक जगत में प्रवेश के लिए वे कायोत्सर्ग को बहुत उपयोगी साधन मानते थे। वे स्वयं कायोत्सर्ग का निरंतर अभ्यास करते थे। कायोत्सर्ग के निरंतर अभ्यास से उनकी कायगुप्ति सध गई

थी। तभी वे 4-5 घंटे एक ही आसन में बैठे रह सकते थे। आंतरिक शुद्धि के लिए 'जाप' को बहुत अच्छा माध्यम मानते थे। पूर्ण एकाग्रता से नियमित रूप से लगातार किए गए 'जाप' से भाव-शुद्धि होती है तथा व्यक्ति वचन-सिद्ध भी हो सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने जन-कल्याण एवं जन-जागरण को अपनी साधना का एक अंग माना, तभी आज के युग की त्रस्त जनता को अपनी जीवन शैली बदलने के लिए वे कई अवदान दे पाए। अणुव्रत, प्रेक्षा-ध्यान, जीवनविज्ञान, अहिंसा प्रशिक्षण ऐसे अवदान हैं जिनमें मनुष्य, समाज, राष्ट्र और विश्व की वर्तमान युग की समस्याएं—भ्रष्टाचार, अनैतिकता, असंवेदनशीलता, आतंकवाद, अवसाद, निराशा, असहनशीलता, अतिभोगवाद, स्वार्थपरता का स्थाई समाधान है। आचार्यश्री तुलसी द्वारा मानव-जाति के कल्याण के लिए दिए गए इन अवदानों के लिए मानव-जाति सदैव उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी। ❖

एक वर्ग ऐसे लोगों का है जो यह मानते हैं कि धार्मिक न रहते हुए तथा जैविक-मनोवैज्ञानिक वृत्तियों या सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की विवशता के बावजूद मनुष्य को नैतिक होना चाहिए। इनका तर्क यह है कि मनुष्य बुनियादी रूप से एक सामाजिक प्राणी है, उसे सदैव एक समाज में रहना है अतः समाज के दूसरे सदस्यों के साथ उसका व्यवहार किस प्रकार का हो, इसका स्पष्ट निर्धारण हो जाना चाहिए ताकि उसके और समाज की दूसरी इकाइयों के बीच एक सामंजस्य बना रहे। ऐसे लोगों की राय में इस प्रकार निर्धारित व्यवहार का अच्छी तरह पालन ही नैतिकता है। इसलिए कुछ लोग कानूनसम्मत जीवनयापन को भी एक नैतिकतापूर्ण जीवन मान सकते हैं। इस तर्क की गहराई में जा कर देखा जाय तो लगेगा कि नैतिकता एक कामचलाऊ व्यवस्था हो जाती है। इसके अनुसार नैतिक होना मनुष्य की मजबूरी हो जाती है—स्पष्ट है कि ऐसी हालत में नैतिक आचरण एक ऐसा आचरण हो जाता है जिसे करना पड़ता है, वह मनुष्य का सहज स्वभाव नहीं रहता। यदि उसके बिना काम चल सकता हो—जो कि बहुत से लोगों का चल सकता है—तो नैतिक होने की मांग का वास्तविक औचित्य तभी हो सकता है जब ऐसा होना मनुष्य के अस्तित्व की एक आधारभूत शर्त हो।

दरअस्ल, मनुष्य नैतिक इसलिए नहीं होता है कि वह सामाजिक या समाज में रहने को विवश है और समाज की व्यवस्था को मानने के लिए विवश है, बल्कि इसलिए कि नैतिक होने में ही उसका मनुष्य होना या मानवत्व की सिद्धि सम्भव है—दूसरे शब्दों में नैतिक हुए बिना सही अर्थों में उसका मनुष्य होना ही संभव नहीं है। यहां यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि इसके लिए उस का धार्मिक होना या शास्त्रसम्मत या विधिसम्मत आचरण करना अनिवार्य नहीं है—बल्कि इस तरह भी कह सकते हैं कि धार्मिक हुए बिना भी नैतिक होना तो संभव है किंतु नैतिक हुए बिना धार्मिक होना तो क्या मनुष्य होना ही संभव नहीं लगता। इसलिए मनुष्य इसलिए नैतिक नहीं है कि नैतिकता कोई सामाजिक मजबूरी है, बल्कि वह इसलिए नैतिक है कि नैतिकता उसके अस्तित्व का बुनियादी धर्म है, जैसे कुछ जैविक वृत्तियां उसका जैविक धर्म होती हैं।

— नन्दकिशोर आचार्य

आचार्यश्री महाप्रज्ञ : जहां बहि तहा अंतो

❑

साध्वी शुभप्रभा

प्रसन्नता का एक अर्थ और भी है। वह है निर्मलता—मन, वचन और कर्म की पवित्रता। शरीर, वाणी और क्रिया की द्विरूपता व बहुरूपता व्यक्ति को विषण्ण बना देती है। वह समरसता और सरलता को बिखेर देती है और व्यक्तित्व को विखंडित कर देती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'महप्पसाया इसिणो' के प्रतिरूप हैं। उनकी मनःस्थिति पर परिस्थितियां हावी नहीं होतीं। अनुकूलता और प्रतिकूलता में संतुलित रखने वाला सूत्र उनके हाथ में है। कारण की मीमांसा में वे स्वयं कहते हैं—'मेरे गुरु ने मुझे श्रुत और शील की संयुत आराधना करना सिखाया। मुझे पहले योगी बनाया। अन्यथा उतार-चढ़ाव के प्रसंगों में संतुलन रहना मुश्किल होता।'

विज्ञजनों की एक संगोष्ठी में चर्चा का बीज-बिंदु था कि इस संसार में श्रेष्ठ-समृद्ध कौन है? एक अनुभवी सिद्ध विद्वान उठे। अपनी संयत, शालीन और संक्षिप्त वाणी में बोले—'शिशु'।

शिशु? कैसा शिशु? प्रश्नों की उत्ताल तरंगें पूरे वातावरण में तैर गईं। उससे स्नात होकर वे महाशय बोले—'शिशु वह होता है—जो सरल होता है, प्रकृति से कोमल होता है, प्रतिक्रिया मुक्त होता है, वर्तमानजीवी होता है, जिज्ञासु होता है और सदा प्रसन्नचित्त रहता है।' इस परिप्रेक्ष्य में जब आज चिंतन का वातायन खुलता है तो एक परिपूर्ण व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। वह व्यक्तित्व जीवन भर शिशुता की चादर ओढ़े रहे हैं और शिष्यत्व भाव का अनुभव करते रहे हैं। वे हैं— सर्वातिशय संपन्न युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी। जिन्हें अध्यात्म का धन्वंतरि और जैन योग का पुनरुद्धारक तथा चलता-फिरता विश्वकोश जैसी अभिधाएं सहज प्राप्त हैं। उनकी जीवन पोथी पढ़ने से यह अभिज्ञान होता है कि इन सबकी पृष्ठभूमि में उनका शैशव-भाव ही सजीव रहा है।

ईश्वर कैसा होता है

ईसामसीह से एक बालक ने पूछा—'ईश्वर कैसा होता है?' प्रभु बोले—'तुम्हारे जैसा।' वस्तुतः परमात्मा की झलक मिलती है—कोयल के स्वर में, फूल के हर रंग में, सुबह की ताजी धूप में, गरीब के आंसुओं में, शांत आंखों में, संत की वाणी में और शिशु के सरल व्यवहार में। शिशु सहज होता है, सरल होता है। वह 'डबल-रोल' नहीं खेलता। मुखौटा नहीं पहनता। कृत्रिम चकाचौंध में नहीं फंसता। आचारांग सूत्र के यह सूक्त—**जहां अंतो तहा बहि, जहां बहि तहा अंतो**—जैसा भीतर वैसा बाहर, जैसा बाहर वैसा भीतर—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के जीवनवृत्त से भी हम यही झलक पाते हैं।

21 जून : जन्म दिवस विशेष : हर्ष-हर्ष

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सरलता की प्रतिकृति हैं। वे दांव-पेच नहीं जानते। बनावटीपन उन्हें पसंद नहीं है। जब वे अपने जीवन-पृष्ठों को खोलते हैं, तो बड़ी सहजता से कहते हैं—'मैं भोला-भाला बालक था। ग्रामीण अंचल में पला-पुसा था। मैंने स्कूल की देहरी तक नहीं देखी थी। दीक्षा लेने के बाद एक श्लोक को याद करने में पूरा दिन व्यतीत हो जाता था। मुझे क्या करना है, क्या पढ़ना है, क्या याद करना है, क्या खाना है, क्या पहनना है और कब सोना है, कब उठना है—इन सबसे अनजान था। बस जैसा निर्देश मिलता, वैसा करता जाता।'—ये सब प्रसंग वे इतनी सरलता और सहजता से बताते हैं कि आज की पीढ़ी एक बोधपाठ प्राप्त कर सकती है।

मृदुनी कुसुमादपि :

पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी कहा करते थे कि—'मनुष्य-लोक का सबसे अधिक सुंदर, प्रिय और आकर्षक फूल है—शिशु।' शिशु प्रकृति से कोमल होता है, कमनीय होता है। उसकी मासूमियत सबको आकृष्ट कर लेती है। जो कोमल होता है, वह अपना अस्तित्व सदैव बनाए रखता है और जो कठोर होता है, अंततोगत्वा उसे टूटना पड़ता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'मृदुनि कुसुमादपि' के प्रतीक हैं। वे पर-दुख कातर हैं, संवेदनशील हैं, दूसरों की पीड़ा को समझने में सक्षम हैं। वे तन, मन और कर्म से मृदु हैं। वे कहने की बात कहते अवश्य हैं, किंतु कठोर शब्दावली में नहीं। उनका अभिमत है कि कठोरता से जो कार्य नहीं होता, वह मृदु-व्यवहार द्वारा सहज हो जाता है।

योगी मन

प्रतिक्रिया पंगुता है। मनोविज्ञान की भाषा में यह एक मानसिक बीमारी है। इसमें संयम, शक्ति और श्रम का अपव्यय होता है, कार्यजा क्षमता नष्ट होती है। स्वतंत्र चिंतन की नई खिड़कियां नहीं खुलतीं। सहजता वहां विराम ले लेती है। शिशु को हम सबने देखा है, वह प्रतिक्रिया-मुक्त जीवन जीता है। वह अपनी क्रिया की प्रतिक्रिया के बारे में नहीं सोचता तथा दूसरों की क्रिया पर भी अपनी टिप्पणी नहीं करता। जो-कुछ उसके इर्द-गिर्द घटित होता है—उससे निरपेक्षवत रहता है। अपने कार्य में मस्त रहना ही उसका अधिकार क्षेत्र है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी विज्ञान के इस नियम को तो स्वीकारते हैं कि हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, किंतु वे इस तथ्य से भी परिचित हैं कि दर्पण पर आकाश की गर्जना का और संगीत की स्वर लहरियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसके समक्ष जैसा बिंब-प्रतिबिंब आता है—वह उसे उसी रूप में ग्रहण कर लेता है। अपनी ओर से कोई प्रयास-अप्रयास नहीं करता। इस दृष्टि से यह अपेक्षा की जाती है कि हर व्यक्ति दर्पण बने।

जहां समूह होता है, वहां आलोचना, प्रत्यालोचना और समालोचना का दौर भी चलता है। वे कहते हैं—'आशंका और प्रतिशोध की भावधारा इसी पृष्ठभूमि पर जन्म लेती है। पर, मेरा यह दृढ़ संकल्प था कि—'मैं प्रतिक्रियामुक्त जीवन जीऊंगा।' उन्होंने अनेकविध संकल्पों से अपने इस चित्त को भावित किया। इसीलिए उनका योगी मन छिट-पुट प्रसंगों से सर्वथा अस्पृष्ट रहा। यह सर्वज्ञात तथ्य है कि सत्य और सौंदर्य के तटों में प्रवहमान शिव-सरिता में निमज्जित व्यक्ति इन सबसे उपरत रहता है।

क्षणजीवी

शिशु वर्तमान-जीवी होता है। वह हर घटना को सिर्फ वर्तमान के आईने में देखता है। उसके आगे-पीछे क्या होता है—वह इनसे बेखबर रहता है। वह कारण और कार्य की मीमांसा में नहीं उलझता। अतीत के पन्ने नहीं पलटता और अनागत कल्पना में अपना समय बर्बाद नहीं करता और अवचेतन मन में किसी प्रकार की मनोग्रंथि को पनपने का अवकाश नहीं देता। पहले क्षण जिससे झगड़ता है, दूसरे ही पल उसके साथ खेलने लग जाता है। इसीलिए वह तनावमुक्त रहता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी क्षणजीवी हैं। उन्हें जिस क्षण जो करना होता है—सिर्फ उसी में **त्वच्चिते तम्मणे तदाज्झवसाणे**—संलीन हो जाते हैं। उस समय बाकी सब कार्य गौण हो जाते हैं। आज का काम कल पर छोड़ना उन्हें अभीष्ट नहीं है। क्योंकि कल के पैने डैने आज का गला घोंट देते हैं। उनके अभिमत से आज की कोख से ही कल का आविर्भाव होता है। इसलिए उन्होंने आज को सर्वाधिक महत्त्व दिया तथा आज की लघु-विराट यात्रा को तीन भागों में बांट लिया। प्रातःकाल आनंद की उपासना, मध्याह्न में आगम संपादन का कार्य व ज्ञानाराधना और सायंकाल शक्ति की साधना—वे अपनी दैनिक-चर्या को सम्यक् ढंग से नियोजित किए हुए हैं।

गहन-जिज्ञासु

जिज्ञासा ज्ञान प्राप्ति का प्रथम चरण है। प्रबुद्ध चेतना

का प्रतीक है। उपलब्धियों का उत्स है। जिज्ञासा का उफनता ज्वार जिस दिन शांत हो जाता है, उस दिन व्यक्तित्व रूपी फूलों के परागकण झर जाते हैं। ऐसा गुरुदेवश्री तुलसी कहते थे। शिशु की जिज्ञासा के पंख हर समय खुले रहते हैं। वह जब कभी, जहां कहीं—नई वस्तु या व्यक्ति को देखता है, तत्काल पूछ बैठता है—यह क्या है? किसने बनाई? क्यों बनाई? क्या काम आती है? —इत्यादि प्रश्नों की झड़ी लगा देता है और समाधान पाए बिना खामोश नहीं होता।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी इसी तरह के गहन जिज्ञासु हैं। उनमें प्रतिपल नया प्राप्त करने की उदग्र चाह है। जिज्ञासा के राजपथ से गुजरते हुए उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन के कालखंड की दूरी को मिटाया है। अध्यात्म और विज्ञान के बीच सेतु स्थापित किया है। शब्द को नए अर्थ दिए हैं और अर्थ को आधुनिक परिवेश दिया है। इसमें भी उल्लेखनीय बात यह है कि वे मूल हार्द को पकड़े बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ते।

जिज्ञासा-रथ पर बैठ कर उन्होंने ज्ञान-विज्ञान और अध्यात्म के अनेक टापुओं की खोज की है। आगम संपादन का मंथन किया और नए ज्ञान-द्वीप उपलब्ध किए।

श्रुत और शील के आराधक

एक बच्चा पूरे परिवार की रौनक होता है। वह अपनी बालसुलभ चेष्टाओं से सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। जो परिस्थिति के साथ, वातावरण के साथ और नियति के साथ समझौता कर लेता है—वही प्रसन्नता से जी सकता है। प्रसन्नता का एक अर्थ और भी है। वह है निर्मलता—मन, वचन और कर्म की पवित्रता। शरीर, वाणी और क्रिया की द्विरूपता व बहुरूपता व्यक्ति को विषण्ण बना देती है। वह समरसता और सरलता को बिखेर देती है और व्यक्तित्व को विखंडित कर देती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी **महप्पसाया इसिणो** के प्रतिरूप हैं। उनकी मनःस्थिति पर परिस्थितियां हावी नहीं होतीं। अनुकूलता और प्रतिकूलता में संतुलित रखने वाला सूत्र उनके हाथ में है। कारण की मीमांसा में वे स्वयं कहते हैं—'मेरे गुरु ने मुझे श्रुत और शील की संयुत आराधना करना सिखाया। मुझे पहले योगी बनाया। अन्यथा उतार-चढ़ाव के प्रसंगों में संतुलन रहना मुश्किल होता।'

सधा हुआ उपशम भाव

उनका उपशम भाव सधा हुआ है। वे फरमाते हैं कि वर्ष भर में क्रोध के प्रसंग नहीं के बराबर आते हैं। अभिमान की छाया ने कभी मेरा स्पर्श नहीं किया। इसलिए मेरी प्रसन्नता अन्याबध की रही है। यह एक सचाई है कि जिसका कषाय अत्यल्प होता है—उसकी प्रसन्नता में अवरोध की काली घटाएं नहीं उमड़तीं।

शिशुत्व भाव के ऐसे शिलोच्चय पर अवस्थित पूज्यवर की मंगल सन्निधि सबके ताप, पाप और संताप का हरण करती रहे और सबमें शैशव संक्रांत करती रहे—यही अभीप्सा है। ❖

मेरा यह दृढ़ विचार है कि भीड़ की मानसिकता पर समझाने-बुझाने का अत्यधिक दबाव हानिकारक है। बहुत सारे लोगों में किसी जोरदार और व्यापक विश्वास के जुनून से एक विशाल और प्रबल, सुविधाजनक एकता अचानक पैदा हो सकती है। एक क्षण के लिए तो ऐसा लगता है कि थोक के भाव हृदय परिवर्तन का जादू हुआ है और इस तरह की अनर्थकारी घटना हमारी विवेक की शक्ति को भौंचक कर देती है। इससे बाजार में आई धूम की तरह आसानी से उपलब्धि की बड़ी-बड़ी उम्मीदें जग जाती हैं। आश्चर्यजनक रूप से मिली तात्कालिक सफलता, इसकी वास्तविकता की कसौटी नहीं है। इसकी सफलता का असली आयाम खतरनाक ढंग से यकायक हमारी सार्वजनीन विश्व-शक्ति को निस्तेज करना है। मानव स्वभाव में लचीलापन होता है और जल्दबाजी में इसे किसी विशेष दिशा की ओर मुड़ने को विवश कर दिया जाता है जो इसकी सामान्य और हितकारी सीमाओं से काफी हट कर होता है। लेकिन, इसकी प्रतिक्रिया अवश्यंभावी होती है और जब इसके फलस्वरूप मोहभंग होता है तब नैतिक पतन का सुनसान मार्ग ही बाकी बचता है।

— रवीन्द्रनाथ टैगोर

आत्मा ही है एक अद्वितीय सत्ता

पृष्ठ 15 का शेष

निकालेंगे। कुलीन स्त्रियां किसी गरीबन को नीच दृष्टि से न देखेंगी जो रात को गलियों में मारी-मारी फिरती है। क्योंकि आपको उसमें भी ईश्वर दिखाई पड़ेगा। ईर्ष्या और दंड का नाम न रहेगा। वे सब लुप्त हो जाएंगे और प्रेम, प्रेम का बड़ा आदर्श, इतना प्रबल हो जाएगा कि मनुष्यों को सन्मार्ग पर ले जाने के लिए किसी दंड या बंधन की आवश्यकता न रह जाएगी।

भारतवर्ष के प्राचीनकाल के लोगों ने इन बातों का विचार किया है, इनका आचरण किया है। अनेक कारणों से, जैसे आचार्यों के रहस्य गुप्त रखने और विदेशियों के आक्रमणों से, इन विचारों का प्रचार न हो सका, उसमें बाधा पड़ गई। पर, वे परम सत्य थे, जहां-जहां उनका प्रभाव पड़ा मनुष्य देवता हो गए। मठों में बंद रहने और दर्शनों के ग्रंथों में—जिन्हें विद्वान लोग ही अध्ययन कर सके—धरे रहने, संप्रदाय विशेष और इने-गिने विद्वानों की संपत्ति बने रहने के स्थान पर अब उनका प्रचार सारे संसार में डंके की चोट करना होगा। ❖

अनुवाद : जगन्मोहन वर्मा

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

मोह

सिद्धनाथ सागर

'... पांचवें क्वार्टर में चटर्जी का परिवार रहता था। चटर्जी मेरी तरह काम नहीं कर पाता था। चार साल नौकरी रह गई थी। उसके घर वाले नहीं चाहते थे कि वह वॉलंटरी रिटायरमेंट ले। उसे 'डायबिटीज' थी। 'ब्लड प्रेशर' था। जोड़-जोड़ में दर्द रहता था। उसकी सही उम्र साठ से ज्यादा थी। जब वह बीमार पड़ता, उसके परिवार वाले अस्पताल की बजाय उसे 'प्लांट' भेज देते। उस दिन भी वह नहीं जाना चाहता था। उसकी 'वाइफ' और लड़कों ने 'बाइ फोर्स' भेज दिया। वह 'प्लांट' पहुंचा। 'टोकन' डाला। थोड़ी देर बाद उसे चक्कर आने लगा। 'एम्बुलेंस' आने तक वह देह छोड़ चुका था। नया नियम बना है न, जो 'प्लांट' में 'एक्सपायर' होगा, उसके परिवार के एक सदस्य को निश्चित नौकरी मिलेगी। बाहर मरने पर कोई 'गारंटी' नहीं। चटर्जी के बेटे को नौकरी मिल गई।'

स्टेशन आने के पहले ही राजेश ने तय कर लिया था कि होटल की बजाय वह अजय बाबू के क्वार्टर में ठहरेगा। दो दिनों का काम है। सहूलियत रहेगी। अन्य परिचितों के बारे में भी जान लेगा। अजय बाबू को पत्र द्वारा वह सूचित भी कर चुका था।

राजेश और अजय बाबू बोकारो इस्पात संयंत्र के एक विभाग में एक साथ काम करते थे। अजय बाबू हंसमुख, लगनशील और उम्रदराज व्यक्ति थे। लोग उनसे खुश रहते थे। उस वक्त राजेश नया था। उसे कुछ समझना होता, वह बेहिचक उनसे पूछ लेता, विचार-विमर्श करता। लगता था, जैसे दोनों एक-दूसरे को बहुत दिनों से जानते हों। राजेश को क्वार्टर भी मिला तो एकदम उनकी बगल में। फिर तो दोनों परिवारों में इतनी घनिष्ठता हो गई, जो राजेश के दूसरी जगह बदली होने तक कायम रही।

कहानी

क्वार्टर मिलने के एक महीने बाद की बात है। उस दिन साप्ताहिक छुट्टी थी। अजय बाबू के यहां वह बैठा था। चाय चल रही थी। जाने किस बात पर उसने कहा—'... छोड़ क्यों नहीं देते हैं? एकमुश्त पैसा मिलेगा। उसी से कोई छोटा-मोटा रोजगार हो जाएगा। बस, जिंदगी धीरे-धीरे कट जाएगी।'

—'बैठे-बैठे ओवरटाइम मिल जाता है। कुछ करना नहीं पड़ता। बस, यही मोह खिसकने नहीं देता।' उनका जवाब था।

एक क्षण के लिए राजेश विस्मित हुआ। उसे लगा—क्या यह वही जिंदगी और जोश से भरे अजय बाबू हैं, जिनके साथ वह काम करता है। उसने अविश्वास के साथ कहा—'आप और मोह?'

—'क्यों, तुम्हें विश्वास नहीं होता?'

—'इसीलिए तो पूछा।'

—'दूसरों से अलग थोड़े हूं। जब तक कारखाने में रहता हूं, एक उत्साही वर्कर के रूप में खटता हूं। चाहता भी हूं, वहीं के माहौल में उलझा रहूं। निजी दुख-तकलीफ थोड़ी देर के लिए ही सही, भूल जाऊं। उम्र के इस मोड़ पर पीछे मुड़ कर देखता हूं तो बड़ी दहशत होती है। आगे अंधकार-ही-अंधकार नजर आता है। अपनी तो जैसे-तैसे कट गई। जो बची है, वह भी कट जाएगी··· कारखाने में न्यू अपाइंटमेंट बंद हैं। बच्चों का क्या होगा? किसी लायक वे अब तक नहीं बन सके कि···' चाय बर्फ न हो जाए, इसलिए उन्होंने बात अधूरी छोड़ दी।

—'बच्चों का मोह तो··· शायद इसीलिए बस बुढ़ापे में छोड़ने की हिम्मत नहीं हो रही।' चाय का अंतिम घूंट लेने के बाद गहरी सांस छोड़ते हुए उन्होंने सूत्र जोड़ना चाहा था।

राजेश को नहीं पता था कि बाद के दिनों में उनके लड़कों ने कुछ किया या नहीं, क्योंकि कुछ महीने बाद उसकी बदली भिलाई इस्पात संयंत्र में हो गई थी। जरूरी कागजात लेने वह बोकारो आया था। उसे अजय बाबू के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल पाई थी, न वह इससे पहले कोई पत्र ही लिख पाया था।

स्टेशन से सेक्टर के लिए मिनी बस पकड़ी। क्वार्टर पहुंचा तो नौ बज चुके थे। उस दिन छुट्टी थी। अजय बाबू बरामदे में बैठे गुनगुनी धूप में तेल की मालिश कर रहे थे। देख कर खिल उठे—'राजेश! आओ भई, आओ।'

लंबे अरसे बाद मिलने से बहुत खुश नजर आ रहे थे। राजेश ने सूटकेस रखा। हाथ में लिया पैकेट उनकी तरफ बढ़ा दिया।

—'सुनाओ राजेश, कैसे हो? सफर कैसा रहा?'—अजय बाबू ने पैकेट मेज पर रख दिया।

—'ठीक रहा। चिट्ठी मिली थी?'—हंसा था राजेश।

—'न मिलने का क्या सवाल है?'

—'आप कैसे हैं? देखे एक साल बीत गया।'

—'हां, इसमें क्या शक?'—अजय बाबू का स्वर कुछ उदास हो आया था। उन्होंने भिलाई के बारे में पूछा। वहां की व्यवस्था, साथ जो काम करते हैं, उनके बारे में और अंत में घर-परिवार के बारे में पूछा। राजेश जवाब देता रहा।

वह आराम से कुर्सी पर बैठ गया था। जूते खोल कर एक तरफ रख दिए थे। इस बीच बरामदे में कोई नहीं आया तो उसने पूछा—'आंटी नहीं दीख रहीं!'

—'चाचा के यहां गई है। शादी है। बच्चे भी वहीं··· दो-चार दिन बाद आएंगे।'

उन्होंने तेल मालिश करना बंद कर दिया था। राजेश आश्वस्त था। कोई जल्दबाजी नहीं थी, न ही थकावट महसूस हो रही थी। उसने लड़कों के बारे में पूछा।

—'बड़ा वाला लगातार कंपीटिशन दे रहा है। कहीं सिलेक्शन हो पाएगा, मुझे शक है··· सबसे ज्यादा चिंता तो इन्हीं बच्चों को लेकर···' उनकी आंखें कहीं शून्य में देख रही थीं। शरीर कुछ ज्यादा ही शिथिल लग रहा था।

—'मेरी बात पर गौर क्यों नहीं करते?'

—'किस बात पर?'

—'वही, वॉलंटरी रिटायरमेंट। एकमुश्त पैसा मिलेगा। उसी से छोटा-मोटा बिजनेस··· बच्चे भी उसी में···।' —राजेश की उंगलियां टाई से उलझी थीं।

—'तुम से असहमत नहीं हूं, लेकिन···'

—'लेकिन क्या?' अब तो ओवरटाइम भी कंपनी ने खत्म कर दी।' राजेश के खिलते गौर वर्ण चेहरे पर आत्मविश्वास दप-दप कर रहा था।

—'अभी तक ओवरटाइम वाली बात तुम्हें याद है?' हलकी-सी मुसकराहट उनके मोटे होंठों पर तिर आई थी।

—'कभी-कभी मामूली चीजें भी याद रह जाती हैं।'

—'ओवरटाइम तो बहाना था। उस दिन बताया नहीं। शायद हिम्मत नहीं पड़ी थी। मैं भी सोचता हूं कि···'

—'क्या सोचते हैं आप?'—उन्हें कुरेदने के लिए राजेश ने पूछा।

—'वही, जो तुम सोचते हो।'

—'फिर देर क्यों?'

—'इसलिए कि वे लोग कुछ और चाहते हैं।'—उनका संकेत परिवार के अन्य सदस्यों की तरफ था।

—'क्या चाहते हैं वे?'

उन्होंने जवाब नहीं दिया। उसे लगा, बात टाल रहे हैं। वे पड़ोस का एक किस्सा सुनाने लगे।

—'··· पांचवें क्वार्टर में चटर्जी का परिवार रहता था। चटर्जी मेरी तरह काम नहीं कर पाता था। चार साल

नौकरी रह गई थी। उसके घर वाले नहीं चाहते थे कि वह वॉलंटरी रिटायरमेंट ले। उसे 'डायबिटीज' थी। 'ब्लड प्रेशर' था। जोड़-जोड़ में दर्द रहता था। उसकी सही उम्र साठ से ज्यादा थी। जब वह बीमार पड़ता, उसके परिवार वाले अस्पताल की बजाय उसे 'प्लांट' भेज देते। उस दिन भी वह नहीं जाना चाहता था। उसकी 'वाइफ' और लड़कों ने 'बाइ फोर्स' भेज दिया। वह 'प्लांट' पहुंचा। 'टोकन' डाला। थोड़ी देर बाद उसे चक्कर आने लगा। 'एम्बुलेंस' आने तक वह देह छोड़ चुका था। नया नियम बना है न, जो 'प्लांट' में 'एक्सपायर' होगा, उसके परिवार के एक सदस्य को निश्चित नौकरी मिलेगी। बाहर मरने पर कोई 'गारंटी' नहीं। चटर्जी के बेटे को नौकरी मिल गई।'

—क्या आप कहना चाहते हैं कि आप का परिवार भी…'—विचलित हो उठा था राजेश।

अजय बाबू चुप हो गए थे। राजेश को लगा, उनके चेहरे की झुर्रियां तेजी से घनी होती जा रही हैं। बरामदे से धूप आहिस्ता-आहिस्ता खिसकने लगी थी। ❖

हिंसा की अनिवार्यता में विश्वास करने वाले लोगों की अंधता को अजीब पा कर—उनसे विपरीत विश्वास रखते हुए भी—न तो मैं तर्कों से कायल होता हूं और न दूसरों को कायल कर सकता हूं; मेरे विश्वास को निर्धारित करने वाली चीज मनुष्य के आध्यात्मिक स्वभाव की निश्चितता है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रेम है। जो सच्चा प्रेम हमें प्रभु द्वारा प्राप्त हुआ है, वह हर प्रकार की हिंसा की सम्भावना को नकार देता है।

मैं जानता हूं, और कोई नहीं जान सकता, कि बुरे संकट में होने पर हिंसा का प्रयोग करना या उसे त्यागना उपयोगी है या अनुपयोगी, हानिकारक है या नहीं है। मैं इतना जानता हूं और हर कोई इस बात को जानता है कि प्रेम कल्याण करने वाली चीज है। जब कोई मेरे लिए प्रेम महसूस करता है तो यह बड़ी अच्छी चीज है। अगर मैं मनुष्यों के लिए प्रेम का भाव रखूं तो और भी बेहतर स्थिति है। वास्तव में, सभी के लिए प्रेमभाव में ही हम सभी का पूर्ण कल्याण निहित है। इस कल्याण में वे लोग तो शामिल हैं ही जो मुझे प्यार करते हैं, बल्कि जैसा कि ईसा कहते हैं, उन लोगों का कल्याण भी शामिल है, जिन्होंने मुझसे घृणा की, मुझे पीड़ा पहुंचाई।

अगर किसी ने इस बात को अनुभव नहीं किया है तो आश्चर्य की बात है, फिर भी यह सत्य है। मैं जितना अधिक इस पर चिंतन-मनन करता हूं, उतना ही मुझे आश्चर्य होता है कि मैं इसे पहले जल्दी अनुभव क्यों नहीं कर सका।

सच्चा प्रेम—जो 'स्व' को अस्वीकार करता और अपने 'अहं' को अन्य में पहचानता है—जीवन के सार्वभौम सिद्धांत—श्रेष्ठतर आत्म—की जागृति का पर्याय है। यह प्रेम ही सच्चा है और सच्चा होने—अर्थात् किसी भी तरह के निजी स्वार्थ से मुक्त होने—पर पूरी तरह कल्याणकारी होता है। यह प्रेम ही सत्य है। जब यह प्रेम सारे व्यक्तिगत स्वार्थों से अलग हो कर केवल प्रेम होता है, तब सभी को कल्याण प्रदान करता है। प्रेम की यही भावना अपने शत्रु या अपराधी के प्रति भी हमें महसूस करनी चाहिए।

—लेव तोलस्तोय

उपेन्द्र कुमार की कविता

•

तृप्ति

आत्म-संतोष और तृप्ति से भरे
इस क्षण को
मैं पूरी तरह से जीना चाहता हूं
चाहता हूं
इसी तरह बैठना चुपचाप
किसी शिला-सा
मृत सागर-सा
बस थोड़ी देर
केवल एक मन्वंतर...

मत निकालो मुझे
बरस चुके बादल की-सी
इस मनःस्थिति से बाहर
मत पुकारो मुझे
असंख्य सर्वनामों में से
किसी एक द्वारा

देखने दो मुझे
जन्म-मृत्यु और जीवन को
पाप-पुण्य को
अतीत, वर्तमान और भविष्य को
समय को आने दो और गुजर जाने दो
बिना मुझे छुए

भूल जाने दो
संसार को मेरी उपस्थिति
क्योंकि मैं था भी नहीं
विस्मृत हो जाने दो
मेरी कविताएं
मेरे गीत
क्योंकि मैंने अर्थवान
न कुछ रचा
न गाया

कुमार वीरेन्द्र की कविता

•

कोई

कोई बार-बार उठ कर
गिर रहा है
जिसकी आवाज
जोरों से गूंज रही है
दसों दिशाओं में

कोई जा रहा है
जिसका चेहरा साफ झलक रहा है
क्षितिज में टूटते हुए
तारों की जगह

कोई रो कर चुप हो गया है
जिसे गुदगुदाने के लिए
हाथ बढ़ा रहे हैं
जुगनू

कोई बोल रहा है
मुंह में कपड़े ठूंसे जाने के
बावजूद
जिसे सुन कर बेचैन हो रहे हैं
तीसी के फूल

कोई पीट रहा है
अपनी छड़ियों से सड़ासड़
पृथ्वी को
जिसे रोकने के लिए
दौड़ पड़ा है अकेला एक बच्चा
अपने पांवों से समय को
ढकेलते हुए।

अनामिका की कविता

•

भाग

वह भाग सीख रहा है।
वह सीख रहा है—
लगातार घटने से
बड़ी-से-बड़ी संख्या
रह जाती है
केवल शून्य!
अगर कुछ बचता भी है
तो धूल पर
चिड़िया के हस्ताक्षर के बराबर।
वह भागना सीख रहा है!
वह सीख रहा है
कि लगातार बढ़ने से
बड़ा-से-बड़ा दानव
रह जाता है पीछे—
छूटा हुआ दूर क्षितिज पर—
बौने की नाक के बराबर।
गुणा-भाग का हासिल शून्य सही,
दौड़-भाग का हासिल शून्य सही—
शून्य एक बहुत बड़ी बूंद है
दुनिया के सब से रसीले फल की।
❖

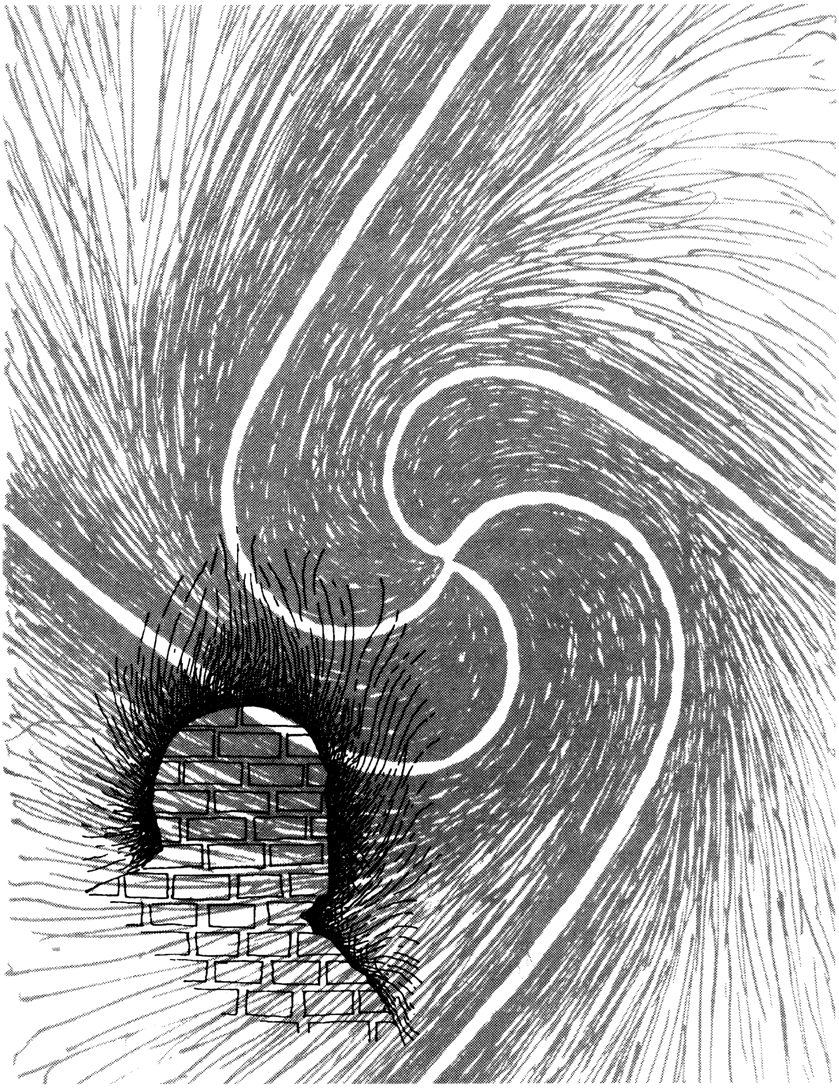

शीलन

काव्य, साहित्य, शिल्पकला, दर्शन, विज्ञान, व्यवस्था-वाणिज्य, व्यायाम, क्रीड़ा, समाज और राष्ट्र—इन्हीं के मध्य से जाति का विकास होता है। अतएव इन्हीं के द्वारा तरुणाई प्रकट होती है। अंतर जब जागता है तब सोई जीवनधारा सतमुखी होकर अपने को प्रकट करती है। किस मंत्र द्वारा सोई शक्तियां जाग सकती हैं, यह अनुसंधान का विषय है।

सुभाषचन्द्र बोस

प्रकृति की ऊर्जा बचेगी तो जीवन की ऊर्जा बनी रहेगी

समणी सत्यप्रज्ञा

प्रकृति के निकट रह कर ही प्रकृति की सुरक्षा की जा सकती है, न कि प्रकृति के साथ खिलवाड़ करके। जैन दर्शन का प्रारंभिक चिंतन रहा—आत्मा का संज्ञान। पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि भी सूक्ष्म जीव हैं। इनके अस्तित्व को अस्वीकार करने का अर्थ होगा—अपने अस्तित्व का अस्वीकार। इनके अस्तित्व को मिटा कर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व को बचा नहीं सकता। इनके अस्तित्व के प्रति प्रमत्त रह कर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक नहीं रह सकता। मानवीय मनोवृत्ति और संग्रह के परिणामों को ध्यान में रख कर ही भगवान महावीर ने असंग्रह और इच्छा-संयम का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। पदार्थ की परिक्रमा करते हुए मनुष्य अपने लिए या मानव जाति के लिए ही नहीं, समूची सृष्टि के लिए महान भय उत्पन्न कर रहा है। समाधान का रास्ता एकमात्र इच्छा-संयम ही है। जीवन की ऊर्जा को बचाए व बनाए रखने के लिए प्रकृति में विद्यमान ऊर्जा के स्रोतों का अतिरिक्त दोहन न किया जाए—यह अपेक्षा है।

जीवन और ऊर्जा एक-दूसरे के पर्याय हैं। प्राणऊर्जा से जीवन को या जीवन को प्राण-ऊर्जा से पृथक नहीं किया जा सकता। वैदिक सूक्त है—**यत् पिण्डे, तद् ब्रह्माण्डे**—जो पिंड में है, वही ब्रह्मांड में है। व्यक्ति हो या विश्व, ऊर्जा के आधार पर ही उसका अस्तित्व टिका है। हां, यह अलग बात है कि ऊर्जा के विविध स्रोत जब सामने आते हैं, तो यह प्रश्न भी आता है कि विश्व के संदर्भ में प्राणऊर्जा के स्रोत के रूप में किसे स्वीकार किया जाए?

ऊर्जा, ऊर्जा के स्रोत और ऊर्जा के विकल्प की आज सर्वत्र चर्चा है। चूंकि मनुष्य निर्मित इस कथित ब्रह्मांड में जीने वाला आज का मनुष्य मशीनों के अभाव में अपने अस्तित्व या गति-प्रगति की कल्पना भी नहीं कर सकता, अतः हर मशीन या तकनीकी उपकरण की प्राण-ऊर्जा बिजली ही है। बिजली की जरूरतों को पूरा करने के अनेक स्रोत उपलब्ध हैं। पृथ्वी पर भावी जीवन के अस्तित्व और उद्देश्य के संदर्भ में इनकी चर्चा महत्त्वपूर्ण है।

भारत में बिजली उत्पादन में कोयले का 60 प्रतिशत, जल-विद्युत परियोजना (बांधों) का 26 प्रतिशत, गैस आधारित तापीय परियोजना का 19 प्रतिशत, परमाणु बिजलीघर का 3 प्रतिशत, डीजल व अन्य ईंधन तेल का 1 प्रतिशत योगदान है। गुजरात व तमिलनाडु 10 फीसद बिजली का उत्पादन पवनचक्की से भी कर रहे हैं। इन संसाधनों को भविष्य की चौखट में देखना चाहें तो

विश्व पर्यावरण दिवस पर विशेष

इनकी सीमितता या अभाव जैसी बात स्वतः सामने आ जाती है। कोयले के भंडार सीमित हैं। वर्तमान में हो रही इसकी खपत की रफ्तार से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 50 वर्ष बाद कोयला शब्द, शब्दकोश में सिमट कर ही कहीं नहीं रह जाने वाला है। संभव है कि पदार्थ जगत में उसकी उपलब्धि संभव नहीं रह पाए। यदि ऐसा हुआ तो बिजली उत्पादन का 60 प्रतिशत स्रोत समाप्त हो जाएगा। बड़े बांधों में पानी को रोक कर बिजली उत्पादन की प्रक्रिया भी खतरों से खाली नहीं है। विश्व बांध-आयोग व नर्मदा बचाओ जैसे अभियान उन्हीं खतरों से बचाने के जागरूक अभियान हैं। आने वाले दिनों में बड़े बांध न बनाए जाने के सुझाव इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं।

गैस आधारित तापीय-ऊर्जा, कोयला, पैट्रोलियम आदि के जलाने से विश्व का ताप भी बढ़ रहा है। यह तापमान बढ़ता गया तो धरती पर मनुष्य व अन्य प्राणियों का ही नहीं, पेड़-पौधों तक का जीवन संकट में पड़ जाने वाला है। ओजोन की परत में हो रहे छेद, जलवायु व मौसम में हो रहे निरंतर परिवर्तन इसके साक्ष्य हैं।

परमाणु ऊर्जा को आज बिजली का अच्छा विकल्प स्वीकार किया जा रहा है। इसीलिए इस दिशा में कैसे निरंतर प्रगति होती रहे—यह सोचा जा रहा है। लेकिन, ऐसी पहल से पूर्व इस संबंध में गंभीर पर्यवेक्षण की जरूरत है। परमाणु ऊर्जा से बिजली उत्पादन के लिए प्राकृतिक पदार्थ 'यूरेनियम' कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल होता है। उसके ही 'एटम' को तोड़ कर ऊर्जा हासिल की जा रही है। यह सही है कि थोड़ा-सा 'यूरेनियम' धीरे-धीरे तोड़ेंगे तो बिजली तो उत्पन्न होगी, लेकिन इसके साथ जुड़ा एक खतरा यह भी है कि वही 'यूरेनियम' यदि अनियंत्रित टूटने लगा तो बम-विस्फोट जैसी स्थिति भी आ सकती है। पांच किलो ग्राम 'यूरेनियम' से कोई भी बम बना सकता है। 'यूरेनियम' को तोड़ने से निकलने वाले 'प्लूटोनियम' की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। हिरोशिमा व नागाशाकी संदर्भ में इसके परिणामों का स्मरण किया जा सकता है। 'यूरेनियम' से निर्मित बम का प्रयोग हिरोशिमा व 'प्लूटोनियम' से निर्मित बम का प्रयोग नागाशाकी पर एक परीक्षण के रूप में किया गया था। महाविनाश का भयावह दृश्य दुनिया के सामने है और आज भी उसे याद करने से रोंगटे खड़े हो उठते हैं।

परमाणु-ऊर्जा से होने वाले प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष खतरे भी कम भयावह नहीं हैं। 'यूरेनियम' के 'एटम' को तोड़ने से निकलने वाली 'रेडियोधर्मी' किरणें इनसान में अनेक खतरनाक बीमारियों को पैदा कर रही है। भारत में 'यूरेनियम' का एकमात्र स्थल झारखंड है। वहां पर कैंसर जैसी बीमारियों की वृद्धि पाई गई है। स्त्रियों व बच्चों पर इसके विकिरण का दुष्प्रभाव विशेष रूप से देखा गया है। मानसिक विकलांगता भी इसके विकिरण से बढ़ी है। समस्या की गंभीरता तब और अधिक चिंताजनक हो उठती है, जब 'यूरेनियम' से चलने वाले कारखानों के कचरे में भी 'रेडियोधर्मिता' के उदाहरण सामने आते हैं। मोटी से मोटी दीवार भी इस 'रेडियोधर्मिता' को रोक पाने में समर्थ नहीं है। फलतः यह कचरा संकट बन कर सामने खड़ा है। पहाड़ियों में सुरंग खोद कर कचरा डालने की बात भी समाधान नहीं। अमेरिका के कई 'गवर्नर्स' ने तो यहां तक कह दिया है कि हम अपने राज्य से किसी 'रेडियोधर्मी' पदार्थ या कचरे के ट्रक को गुजरने नहीं देंगे। वर्तमान में वहां 'यूरेनियम' से चल रहे लगभग 104 कारखानों का कचरा वहीं 'ड्रम' भर कर रखा जा रहा है और उसका दुष्परिणाम भी सामने आ रहा है। इन दुष्परिणामों के प्रति जागरूक होकर ही पिछले 37 वर्षों से अमेरिका में एक भी नया परमाणु बिजलीघर नहीं लगा है। इंग्लैंड, जर्मनी और कनाडा में भी पिछले तीन दशक में एक भी परमाणु बिजलीघर नहीं लगा है। दुनिया भर में उत्पादित होने वाली कुल बिजली का 18 फीसद ऊर्जा परमाणु-बिजलीघर पैदा करते हैं। सर्वाधिक परमाणु बिजली का उत्पादन फ्रांस करता है। वहां पर कुल उत्पादन का 78.1% उत्पादन परमाणु-बिजलीघरों में होता है। लेकिन, आने वाले दिनों में किसी नए परमाणु बिजलीघर को स्थापित करने की बात उसने भी स्थगित कर दी है।

आश्चर्य के साथ समझदारी को व्यक्त करने वाला तथ्य यह भी है कि आस्ट्रेलिया के पास 'यूरेनियम' का सबसे बड़ा भंडार है, लेकिन वहां एक भी परमाणु बिजलीघर नहीं है। जो दूसरे देशों को 'यूरेनियम' देता है, वहां परमाणु बिजलीघर का न होना स्पष्ट करता है कि आस्ट्रेलिया 'यूरेनियम' से होने वाले प्रत्यक्ष और परोक्ष खतरों से परिचित है। 'रेडियोधर्मी' कचरे का प्रभाव आने वाली पीढ़ियों तक जाएगा, इसका प्रमाण यह भी है कि ये किरणें बहुत लंबे समय तक जीवित रहती हैं। आज जो विकिरण हुआ, उसका प्रभाव कब आधा हो पाएगा, इस संदर्भ में वैज्ञानिक बताते हैं कि 'यूरेनियम' का प्रभाव

चौबीस हजार वर्ष तक रहता है और 'प्लूटोनियम' दस लाख वर्षों से अधिक अवधि तक प्रभावकारी रहता है। इन विकिरणों का आधा खतरा कम करने के लिए भी इतना लंबा समय लग जाता है।

दुनिया के विकसित देश जिस दिशा से पीछे हटने को बेताब हैं, जगतगुरु कहलाने वाला भारत आज उसी दिशा में आगे बढ़ कर अपने भविष्य को दांव पर लगाने को आतुर क्यों है? जापान, जो परमाणु बम के लोमहर्षक दंश को बुरी तरह झेल चुका, कभी 'शठे-शाठ्यं' की बात नहीं सोचता। बम नहीं बनाने के पीछे भी उसका चिंतन यही रहा—'हम नहीं चाहते जो त्रासदी हमने झेली, कोई और आबादी झेले।'—आज जापान परमाणु-ऊर्जा को छोड़ कर पुनर्प्राप्य स्रोतों से बिजली उत्पादन के तरीकों पर शोध हेतु भारी धन खर्च कर रहा है। ऊर्जा के स्रोत संबंधी सारा पैसा वह 'बायो-गैस', पवन-चक्की, सौर ऊर्जा आदि पर लगा रहा है। पर्यावरण की दृष्टि से साफ-सुथरे भविष्य का लक्ष्य ही उसकी आंखों में है। कोयला व 'पैट्रोलियम' का विकल्प वह सौर ऊर्जा में देखता है। जापान व यूरोप के संदर्भ में अनुमान किया जा रहा है कि सन् 2050 तक ये देश कम 'कार्बन' उत्सर्जन करने वाले समाज बन जाएंगे।

ईंधन उत्पादन के विकल्प खोजने में वैज्ञानिक जेट्रोफा, मक्का और विविध अनाजों तक तो पहुंचे ही हैं, हाल् ही में हुई एक शोध के अनुसार एक आसान और कभी न खत्म होने वाला तरीका भी वे प्रस्तुत कर रहे हैं। उनके अनुसार सूक्ष्म जीवों की मदद से ऊर्जा संकट पर काबू पाया जा सकता है। गहराते ईंधन संकट के लिए 'लिगनोसेलुलोसिक बायोमास' और लकड़ी के अवशेषों सहित कचरे, कृषि पदार्थों के अवशेष आदि को विकल्प रूप में देखा जा रहा है। इन पदार्थों में मौजूद 'शुगर' को रासायनिक प्रक्रिया के तहत जैव-ईंधन में तबदील किया जा सकता है।

प्यूर्टोरिको विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं ने दावा किया है कि उन्होंने सूक्ष्म जीवों में मौजूद उस 'एंजाइम' का पता लगा लिया है जो 'सेलुलोज' पैदा करता है। अकसर पानी में पड़ी रहने वाली लकड़ी जलीय जीवों के पेट के 'बैक्टीरिया' की मदद से कुछ दिन बाद नष्ट हो जाती है। सूक्ष्म जीवों में पाया जाने वाला खास 'एंजाइम' ही लकड़ी को सड़ाने में सहायक होता है। भारी मात्रा में पाए जाने वाले सूक्ष्म जीवों में मौजूद इस विशेष एंजाइम की सहायता से सेलुलोज पैदा किया जा सकता है। इस सेलुलोज की मदद से पर्यावरण के अनुकूल जैव-ईंधन बनाया जा सकता है।

वैज्ञानिकों की ऐसी शोध और सोच को एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन, जहां तक पर्यावरण के अनुकूलन की बात है—किसी भी प्राणी-समूह को मात्र 'साधन' स्वीकार कर लेना कहां तक उचित है? प्रसिद्ध जैन सूक्त है—**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**— हर एक का जीवन परस्परता के धागे से बंधा हुआ है। परस्पर उपकार प्रकृति का नैसर्गिक स्वभाव है। जीव का प्रकट रूप सूक्ष्म हो या स्थूल, अपनी इच्छापूर्ति के लिए मानव द्वारा उन्हें साधन बनाया जाना कदापि उचित नहीं।

अमेरिका में एक समुदाय है—'आमिष समुदाय'। इस समुदाय के सदस्य न तो वाहन पर चलते हैं, न बिजली का इस्तेमाल करते हैं। पर्यावरण की सुरक्षा का एक लक्ष्य उनके सामने हैं। आज दुनिया का सबसे धनी मुल्क अमेरिका है, लेकिन वहां भी अब यह समझा जाने लगा है कि प्रकृति, पर्यावरण और मानवता ही मूल संपत्ति है। असली संपत्ति तो स्वच्छ पर्यावरण है। आंतरिक शांति, पड़ोसी के प्रति प्रेम और पारस्परिक सौहार्द में ही असली संपत्ति है।

हमें यह मानना होगा कि संसाधन सीमित हैं। संसाधनों पर अधिक से अधिक स्वामित्व की होड़ में मनुष्य यह भूल रहा है कि वह स्वयं भी प्रकृति का ही एक अंग है, एक हिस्सा-मात्र ही है—प्रकृति का स्वामी नहीं है। उपभोक्तावादी संस्कृति आज प्रकृति, पर्यावरण और मानवता का ही उपभोग कर जाने को उतारू है। विकास की कल्पना और विकास से जुड़ी सचाई की स्थिति भी कम दर्दनाक नहीं है।

प्रकृति के निकट रह कर ही प्रकृति की सुरक्षा की जा सकती है, न कि प्रकृति के साथ खिलवाड़ करके। जैन दर्शन का प्रारंभिक चिंतन रहा—आत्मा का संज्ञान। पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि भी सूक्ष्म जीव हैं। इनके अस्तित्व को अस्वीकार करने का अर्थ होगा—अपने अस्तित्व का अस्वीकार। इनके अस्तित्व को मिटा कर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व को बचा नहीं सकता। इनके अस्तित्व के प्रति प्रमत्त रह कर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक नहीं रह सकता। मानवीय मनोवृत्ति और संग्रह के परिणामों को ध्यान में रख कर ही भगवान महावीर ने

असंग्रह और इच्छा-संयम का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। पदार्थ की परिक्रमा करते हुए मनुष्य अपने लिए या मानव जाति के लिए ही नहीं, समूची सृष्टि के लिए महान भय उत्पन्न कर रहा है। समाधान का रास्ता एकमात्र इच्छा-संयम ही है। जीवन की ऊर्जा को बचाए व बनाए रखने के लिए प्रकृति में विद्यमान ऊर्जा के स्रोतों का अतिरिक्त दोहन न किया जाए—यह अपेक्षा है। भारत में सौर ऊर्जा, पवन-ऊर्जा और पन-बिजली के क्षेत्र में अपार संभावनाएं हैं। विश्व-ताप वृद्धिजनित समस्या से निबटने के लिए ऊर्जा इस्तेमाल के तरीके को बदलना व जीवन शैली में बिजली पर निर्भरता का अल्पीकरण एक सुखद भविष्य की ओर उठा सुदृढ़ कदम होगा। इस संदर्भ में सबका साझा प्रयास ही सुखद भविष्य की आशा दे सकता है।

❖

मनुष्य के अंदर उसकी आत्म-चेतना का जो अतिक्रमण है वह पशुत्व के गुरुत्वाकर्षण से तो निकला, पारस्परिक दायित्व से अपने आप को उस ने संशोधित किया, ऋणमोचन किया, निर्भार हुआ। निर्भार होने से फिर अतिक्रमित होता है। यानी यहां का जो आकर्षण है, 'अटेचमेंट' है दुनिया का, संसार का, परिवार का, समाज का, राज्य का इस सब 'अटेचमेंट' से 'डिटेच' हो। डॉ. भगवानदास ने एक फ़ार्मूला दिया—'अटेचमेंट' क्या है? और 'डिटेचमेंट' क्या है? उन्होंने एक बहुत बढ़िया सूत्र दिया 'अहम् एतत् न' और तीन ही शब्द अंग्रेज़ी में कहे 'आई एम दिस नॉट'। बिल्कुल साधारण-सा लगता है, परंतु अतिक्रमण का सारा दर्शन इस में भरा पड़ा है। 'मैं यह हूं', 'यह मेरा है', यह बंधन है और 'मैं यह नहीं हूं', 'यह मेरा नहीं है' यह अतिक्रमण है। उदाहरण के लिए देखिए मनुष्य के, मैं के सात बंधन होते हैं। पहला बंधन है देह। 'मैं देह हूं' यह पहला बंधन है। फिर इस देह के सुख-दुःख मेरे हैं। लेकिन, देह सुरक्षित चाहिए तो बोले कोई झोंपड़ा तो हो सर पर, कोई तप्पड़ तो हो, उसके लिए चाहिए गेह। तो देह के बंधन के बाद गेह का बंधन। लेकिन, केवल गेह का, सूने घर का क्या अर्थ? स्त्री के बगैर घर बसता है क्या? तो उसे कहते हैं कलत्र बंधन। लेकिन, स्त्री बांझ हो तो घर अच्छा लगता है क्या? उसके भी कोई आल-औलाद हो। तो उसे कहते हैं पुत्र बंधन। 'देह, गेह, पुत्र, कलत्र बंधन'। फिर पैसा न हो तो पुत्र-कलत्र खायें क्या? पांचवां बंधन है वित्त बंधन। अब वित्त भी मेरा, लेकिन कोरे वित्त से क्या है? थोड़ा समाज में पद तो हो, तो पद बंधन। और सातवां लोगों में ख्याति हो, यश हो, तो देह, गेह, पुत्र, कलत्र, वित्त, पद और प्रतिष्ठा। सात गांठों से मनुष्य का 'मैं' जकड़ा हुआ है। इन बंधनों से रहित हो जाएं तो वह अतिक्रमण है। पर, रहित होकर भाग कर जायेगा कहां? जहां भागा 'मैं' और 'मेरा' बन जायेगा। जहां जायेगा वहां भी कुछ न कुछ 'मैं' के 'अतिरिक्त' है जो 'इदम्' में है या 'एतद्' है—जिसे 'दिस' कहते हैं। 'दिस' के साथ जहां भी 'मैं' और 'मेरा' का संबंध है वह कोरी मानसिक कल्पना है। यह संबंध सच्चा नहीं है। यह गांठ सच्ची नहीं है। इसी को तुलसीदास ने एक चौपाई में कहा है—'जड़ चेतन ग्रंथि पड़ गई'। 'मैं' चेतन है। चेतन वह है जो अपने को जानता है, जड़ को भी जानता है। और जड़ वह है जो न अपने को जानता है और न ही चेतन को जानता है। लेकिन कहते हैं कि दोनों की कैसे ही गांठ पड़ गई—'जड़ चेतन ग्रंथि पड़ गई'। और यद्यपि यह मृषा बिल्कुल झूठी है—गांठ पड़ नहीं सकती—फिर भी छूटती बड़ी मुश्किल से है। छूटना बहुत कठिन है। ये डॉ. भगवानदास ने जो फार्मूला दिया है वह यह है कि 'दिस' को आप 'फिजीकली' मत छोड़ो। 'मेंटली' छोड़ो और 'डिटेच' हो जाओ और इनके 'आब्जरवर' बन जाओ। इनके साथ अपने को 'आइडेंटीफाई' मत करो। बस, आप मुक्त हो गए।

— डॉ. छगन मोहता

अणुव्रत : मानव बनने की आचार-संहिता

❑

साध्वी कनकरेखा

सचमुच में आचार्यश्री तुलसी इस धरती के महामानव थे। गीता की भाषा में कहा जाए तो वे स्थितप्रज्ञ थे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बाद आचार्यश्री तुलसी ही एक ऐसे महामानव हुए जिन्होंने भारत के अंतर-मन की थाह ली। उसी का परिणाम है कि आज उनके द्वारा प्रवर्तित 'अणुव्रत आंदोलन' जन-जन की नैतिक चेतना को जाग्रत कर रहा है। यह आशा करना स्वाभाविक है कि एक दिन ऐसा आएगा कि नैतिक चेतना के उजाले में 21वीं सदी का उज्ज्वल इतिहास लिखा जाएगा। आचार्यश्री तुलसी ने अपनी संघीय जिम्मेदारी का सम्यक् निर्वहन करते हुए वैचारिक क्रांति लाने का सफल प्रयास किया और वह भी इस प्रकार कि लोग पहले उसे समझें, फिर जीवन में उतारें।

छह दशक पूर्व भारत जब आजाद हुआ, तब हमारे देश के कर्णधार औद्योगिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के कार्यों में लग गए, लेकिन नैतिकता को गौण कर दिया गया। तब आचार्यश्री तुलसी के मस्तिष्क में चिंतन उभरा कि चारित्रिक विकास के बिना देश का अन्यान्य विकास फलदायी नहीं होगा। हमारा देश बाह्य-परतंत्र से तो मुक्त हो गया, किंतु जनमानस में अनैतिकता, जातिवाद, वैमनस्य, 'ब्लैक-मार्केटिंग', घूसखोरी जैसी बुराइयां बढ़ती जा रही हैं, ऐसी स्थिति में अगर जन-समुदाय का चारित्रिक व नैतिक स्तर सुरक्षित नहीं रहा तो स्वतंत्रता भी स्वछंदता में परिणत हो सकती है। चारित्रिक विकास के लिए तब उन्होंने अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात किया। अणुव्रत—अर्थात् जीवन निर्माण के छोटे-छोटे संकल्प।

जीवन की पवित्रता और आचरण की उच्चता के लिए निर्धारित आचार-संहिता का नाम है—अणुव्रत, अणुव्रत एक 'निर्विशेषण व संप्रदायातीत धर्म' का नाम है। किसी भी समुदाय में आस्था रखने वाला व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। अणुव्रती बनने के लिए न किसी संप्रदाय को छोड़ना जरूरी है, न जैन गुरु को अनुशास्ता मानना जरूरी है। एक जैन जिस तरह अणुव्रती बन सकता है वैसे ही एक मुसलमान भी अणुव्रती बन सकता है। भिन्न-भिन्न संप्रदायों में आस्था रखने वाले अपनी आस्था के अनुसार उपासना करते हुए अणुव्रती बन सकते हैं। अणुव्रत का किसी उपासना-विधि में हस्तक्षेप नहीं है। अपेक्षा इतनी है कि उसके जीवन में अणुव्रत के नियमों का पालन हो।

अणुव्रत एक ऐसा आंदोलन है जो वर्ण, जाति, धर्म, संप्रदाय, भाषा व प्रांतीय-भेदों से ऊपर उठ कर मानव मात्र में मानवता की भावना को जाग्रत करता है। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना ही इसका मूल उद्देश्य है। इंसान भले ही भगवान न बने, पर सच्चा इंसान

दस जून : आषाढ़ कृष्णा तृतीया : महाप्रयाण
आचार्यश्री तुलसी का पुण्य स्मरण करते हुए

अवश्य बने। मानव को मानवता के शिखर पर पहुंचा देना अणुव्रत का काम है। तभी तो कहा जाता है—

अणुव्रत वह है जो अंतर-चेतना को जगा दे।
अणुव्रत वह है जो बिछुड़े को गले लगा दे।।

अणुव्रत की सीधी-सी पहचान तो यही है कि वह शैतान को इंसान और इंसान को भगवान बना दे। अणुव्रत आंदोलन को जन-जन तक पहुंचाने के लिए आचार्यश्री तुलसी ने कच्छ से कलकत्ता एवं पंजाब से कन्याकुमारी तक लगभग एक लाख किलोमीटर की पदयात्राएं कीं। वे आध्यात्मिक जगत के उज्ज्वल नक्षत्र थे। वे कुशल मार्गदर्शक एवं समाज सुधारक थे। उन्होंने जीवन भर समाज में धार्मिक व सामाजिक चेतना जगाने के लिए अथक प्रयास किए। वे एक ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने सांप्रदायिक सौहार्द, राष्ट्रीय एकता तथा नैतिक उत्थान के लिए अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। आचार्यश्री तुलसी ने व्यक्ति, धर्म और समाज की विचारधारा को सीमित दायरे से निकाल कर उसे व्यापक आधार दिया। उन्होंने धर्म को नैतिकता, सदाचार एवं आत्मानुशासन से जोड़ कर भारतीय दर्शन जगत में नई पहचान बनाई। अपनी पदयात्राओं के दौरान आचार्यश्री तुलसी ने व्यक्तियों से नशीले पदार्थों का, मांसाहार का परित्याग कर सात्त्विक जीवन जीने का संकल्प दिलाया। आज यह महती कार्य उनके उत्तराधिकारी युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कर रहे हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के कुशल नेतृत्व में साधु-साध्वियों के सैकड़ों समूह न केवल भारत की धरती पर, अपितु नेपाल, भूटान व सिक्किम में भी मानवतावादी संदेशों को जनमानस तक पहुंचाने में अथक परिश्रम कर रहे हैं। समण श्रेणी की नई स्थापना ने तो अणुव्रत की गूंज विदेशों तक पहुंचा दी है। फलस्वरूप अणुव्रत एक चरित्रमूलक, राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में माना जाने लगा है। देश के वरिष्ठ चिंतकों, विचारकों व साहित्यकारों ने इसका सदैव अनुमोदन किया है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन हमारे देश के महान दार्शनिक थे। उन्होंने अपनी पुस्तक—'लिविंग विद ए परपज'—में विश्व की 14 विभूतियों का वर्णन किया है। उसमें एक नाम आता है—आचार्यश्री तुलसी। कहा गया है कि आचार्यश्री तुलसी ने सामाजिक उन्नति, धार्मिक सद्भाव, शिक्षा को बढ़ाने तथा अंधरूढ़ियों व बुराइयों को मिटाने का अभूतपूर्व कार्य किया है। उन्होंने मानवता को संकीर्णता से निकाल कर उदारता व सहृदयता का मार्ग दिखाया है। शांतिपूर्ण जीवन जीने की आचार-संहिता अणुव्रत के द्वारा दी गई है।

सचमुच में आचार्यश्री तुलसी इस धरती के महामानव थे। गीता की भाषा में कहा जाए तो वे स्थितप्रज्ञ थे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बाद आचार्यश्री तुलसी ही एक ऐसे महामानव हुए जिन्होंने भारत के अंतर-मन की थाह ली। उसी का परिणाम है कि आज उनके द्वारा प्रवर्तित 'अणुव्रत आंदोलन' जन-जन की नैतिक चेतना को जाग्रत कर रहा है। यह आशा करना स्वाभाविक है कि एक दिन ऐसा आएगा कि नैतिक चेतना के उजाले में 21वीं सदी का उज्ज्वल इतिहास लिखा जाएगा। आचार्यश्री तुलसी ने अपनी संघीय जिम्मेदारी का सम्यक् निर्वहन करते हुए वैचारिक क्रांति लाने का सफल प्रयास किया और वह भी इस प्रकार कि लोग पहले उसे समझें, फिर जीवन में उतारें।

आज देश राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक आदि अनेक समस्याओं से ग्रसित है। इनमें भी सबसे बड़ी समस्या है—चारित्रिक पतन की—जो समस्त समस्याओं की जड़ है। अणुव्रत वर्तमानकालिक समस्त समस्याओं के समाधान में सक्षम है, अणुव्रत में संपूर्ण जीवनशैली का निदर्शन है, उसका प्रत्येक नियम सुझाव का मार्ग प्रशस्त करता है। अणुव्रत पर चलने वाला निश्चित मंजिल पाता है। इस संदर्भ में कवि की पंक्तियां बड़ी मार्मिक हैं—

हर समस्या सुलझेगी, आप उलझना छोड़ दें।
हर मंजिल मिलेगी, आप भटकना छोड़ दें।।

इस अणुव्रत आंदोलन को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए 'प्रेक्षाध्यान' और 'जीवनविज्ञान' भी हमारे सामने हैं। ये तीनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। अणुव्रत जहां सच्चा मानव बनने की आचार-संहिता है, वहीं जीवनविज्ञान और प्रेक्षाध्यान जीने की कला का प्रशिक्षण देते हैं। इससे स्वस्थ समाज की कल्पना का सपना साकार हो सकता है।

अनुकरण प्रधान मनोवृत्ति समाज में अंधरूढ़ियों को जन्म देती है। सामाजिक कुरीतियां जीवन को जटिल बना देती हैं। समाज में पर्दाप्रथा, मृत्यु-भोज, मृतक के पीछे रोना, काले वस्त्र धारण करना आदि—अनेक प्रकार की रूढ़ियां प्रचलित हैं, जो आर्थिक दृष्टि से बहुत बोझिल तथा समाज को विकृत बनाती हैं। इसके प्रतिकार में अणुव्रत आंदोलन ने 'नया मोड़' का अभियान चलाया।

इसी तरह आज सांप्रदायिक उन्माद की घटनाएं भी

बढ़ती जा रही हैं। धर्म के नाम पर राजनीति खेली जा रही है। वर्तमान चुनाव की प्रक्रिया ने लोकतंत्र की पवित्रता को खत्म कर दिया है, पर्यावरण का संकट भी बढ़ता जा रहा है। मानवीय मूल्यों की उपेक्षा से उपजी समस्त समस्याओं का समाधान अणुव्रतों में निहित है।

आज अपेक्षा है कि इस समस्या-संकुल युग में अणुव्रत की आचार-संहिता को आचरित किया जाए। जीवन को सत्यम् शिवम् सुंदरम् की त्रिवेणी में स्थापित करने के लिए अणुव्रत एक कारगर उपाय है।

❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन

31 जुलाई, 01 एवं 02 अगस्त, 2009, लाडनूं

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के तत्त्वावधान में युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य व युवामनीषी युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के दिशा-निर्देशन में **तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन 2009** का त्रिदिवसीय आयोजन 31 जुलाई, 01 एवं 02 अगस्त, 2009 को जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान) में आयोजित किया जा रहा है।

सभी तेरापंथी सभाओं को चार अधिकृत प्रतिनिधि भेजने हेतु सादर निवेदन है। सभी तेरापंथी सभाओं को उक्त संबंधी परिपत्र भेजा जा चुका है। सभा के वरिष्ठ पदाधिकारियों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है। इस सम्मेलन में संघीय व सामाजिक गतिविधियों के संबंध में विशद् चर्चाएं होंगी। सम्मेलन को सार्थक बनाने हेतु आपके सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

उक्त अवसर पर महासभा से एफिलिएटेड तेरापंथी सभाओं में से निर्धारित अर्हताओं के आधार पर **श्रेष्ठ सभा** एवं **विशिष्ट सभा** का चयन भी किया जाएगा। चयन प्रक्रिया से संबंधित परिपत्र आदि सभी सभाओं को प्रेषित किए जा रहे हैं। सभाओं को परिपत्र यथाशीघ्र भरकर भेजने हेतु सादर निवेदन है।

अधिक जानकारी हेतु महासभा प्रधान कार्यालय कोलकाता से 033-22357956/22343598 अथवा 09831218218 नंबरों पर संपर्क किया जा सकता है।

जसकरन चौपड़ा	**भंवरलाल सिंघी**	**बिनोद कुमार चोरड़िया**
अध्यक्ष	राष्ट्रीय संयोजक	महामंत्री

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

(ISO 9001 2000 प्रमाणित संस्था)

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001, दूरभाष : 22357956, 22343598, फैक्स : 033-22343666

गिरधरराव का विश्वासघात

❑

शत्रुघ्नलाल शुक्ल

पंद्रहवें रोज रात के समय चबूतरे पर लेटा हरिहर सोच रहा था—काश! अगर हंडिया चोरी न हुई होती तो आज उसे फोड़ कर फकीर बाबा की बात को परखता। जरूर उस जड़ी में सोना बनाने की शक्ति रही होगी, वरना फकीर बाबा को क्या पड़ी थी, जो मुझे जड़ी देता! शायद मेरी गरीबी देख कर उसे दया आ गई थी। देखने में तो अत्यंत साधारण फकीर लग रहा था, लेकिन कौन जाने, किसी अलौकिक शक्ति का स्वामी होने के कारण उसने उस जड़ी में सोना बनाने की खूबी पैदा कर दी हो! मगर अब यह सब सोचने का क्या फायदा! जब भगवान ही मुझ पर रूठे हैं तो फकीर बाबा भी क्या करेगा! इन्हीं विचारों में डूबा हरिहर करवटें बदलता रहा।

आधी रात के बाद, ठंडी हवा के झोंकों में उसकी आंखें झपकी ही थीं कि एकाएक किसी के जोर-जोर से चिल्लाने की आवाज सुनाई पड़ी। वह हड़बड़ाकर उठ बैठा। आवाज कहीं करीब ही से आ रही थी—'हाय! हाय रे! हे भगवान, मुझे बचाओ! बचाओ!!'

बालकथा

माधवराव ने मरते समय अपने दोनों बेटों—गिरधरराव और हरिहरराव को बुला कर कहा—'बेटा! ऐसा लगता है कि यमराज का रथ मुझे लेने आ पहुंचा है और अब मुझे जाना ही पड़ेगा। इसलिए अंतिम समय में तुम दोनों भाइयों को अपनी सारी संपत्ति सौंपे जा रहा हूं। दोनों भाई मिल-जुल कर घर को संभालना। मेरे पूजा वाले कमरे में अलमारी के नीचे दस हजार रुपये गड़े रखे हैं। उन्हें निकाल कर आपस में बराबर-बराबर बांट लेना। मैं चाहता हूं कि…'

एकाएक हिचकी आ जाने से वह अपना इरादा जाहिर न कर सका और उसके प्राण पखेरू उड़ गए। दोनों भाई पिता की लाश से लिपट कर दहाड़ें मार-मार कर रोने लगे। वह आगे क्या कहना चाहता था, इसका कोई अनुमान न लगा पाया।

पिता के अंतिम क्रियाकर्म से निबट कर एक दिन बड़े भाई गिरधरराव ने कहा—'हरिहर! चलो, जरा देखें तो सही कि पिताजी ने जिन रुपयों का जिक्र किया था, वे कहां रखे हैं!'

हरिहर, जो अपने बड़े भाई का बहुत सम्मान करता था, राजी हो गया।

दोनों ने कमरा बंद करके पूजा वाली अलमारी को हटा कर वहां खुदाई शुरू कर दी। काफी

नीचे तक खोद ले गए, परंतु कहीं कुछ दिखाई न पड़ा। हार कर उन्होंने खोदना बंद कर दिया। निराश होकर हरिहर बोला—'तो क्या पिताजी ने अंतिम समय में हमसे झूठ कहा था?'

गिरधर ने उसे समझाते हुए कहा—'हरिहर! जब मनुष्य मृत्यु के करीब जा पहुंचता है तो अकसर उसकी बुद्धि मंद पड़ जाती है। इसलिए हो सकता है यह बात उन्होंने अपने होश-हवास में न कही हो!'

बात आई-गई हो गई। किसी तीसरे को माधवराव की कही हुई बात या दोनों भाइयों द्वारा की गई खुदाई की भनक तक न पड़ी।

एक साल बाद गिरधर अपना गांव छोड़ कर बंबई चला गया। वहां से साल-भर बाद जब लौटा तो वह कई हजार का आदमी था। पूछने पर उसने लोगों को बताया—'मैं वहां कोयले की ठेकेदारी करता था। एक बार एकाएक भाव चढ़ जाने से मुझे लागत का सात गुना धन मिल गया। मैं सारा धन बटोर-कर वापस चला आया। अब मैं अपने गांव में ही रह कर कोई काम-धंधा देखूंगा।'

लोगों ने उसके भाग्य की सराहना की।

असल में वे दोनों सगे भाई न होकर सौतेले थे। गिरधर बड़ा था और चालाक व होशियार था। हरिहर छोटा था और सीधा-सादा था। माताएं दोनों की पहले ही मर चुकी थीं। एक बूढ़ी दासी ही घर का सारा काम-काज संभालती थी।

गरीबी से ऊब कर हरिहर ने भी एक दिन सोचा—यहां पड़े-पड़े क्या करूंगा! क्यों न किसी बड़े शहर में चला जाऊं! वहां छोटी-मोटी कोई मजदूरी तो मिल ही जाएगी। आखिर बड़े भाई ने भी तो हजारों कमाए हैं; मुझे क्या पेट-भर रोटी भी न मिलेगी!

बड़ा भाई गिरधर किसी काम से कोल्हापुर गया हुआ था, इसलिए बिना उससे भेंट किए वह अकेला ही राम का नाम लेकर बंबई की ओर रवाना हो गया।

वहां एक सेठ के यहां दो वर्ष तक कड़ी मेहनत-मजदूरी करने के बाद एक दिन उसने सेठ से गांव लौटने का विचार प्रकट किया। सेठ उसकी सेवा, सचाई और ईमानदारी से पहले ही बहुत प्रसन्न था। जब हरिहर के जाने का दिन करीब आया तो सेठ ने उसे राह-खर्च के लिए कुछ पैसे और एक चांदी की ईंट देते हुए कहा—'लो, इतनी चांदी से तुम्हारा घर आबाद हो जाएगा। और अगर फिर से कभी तुम्हें नौकरी करने की जरूरत महसूस हुई तो बिना किसी लाज-संकोच के सीधा मेरे पास चले आना।' हरिहर चांदी की सिल लेकर प्रसन्न मन से अपने गांव लौट आया।

गिरधर के पूछने पर उसने सेठ के यहां की नौकरी और फिर खुश होकर सेठ द्वारा दिए गए इनाम की बात बताते हुए भाई को चांदी की वह ईंट भी दिखा दी। गिरधर के मन में चोर बैठा हुआ था, तिस पर वह लालची भी था; चांदी की सिल देखते ही उसे हड़पने का विचार करने लगा। सीधा-सादा हरिहर अपने भाई की नीयत को भांपने में असमर्थ था। उसने सपने में भी न सोचा था कि पिता के बताए रुपए इसी ने चुराए हैं और अब चांदी की सिल को भी हथियाने की फिराक में है।

एक दिन गिरधर ने हरिहर को सलाह देते हुए कहा—'क्यों नहीं तुम इस ईंट को बेच कर चांदी के जेवर खरीद लेते और फिर इसी गांव में एक सर्राफे की दूकान खोल लेते! यहां इस पूरी बस्ती में सर्राफे की कोई दूकान नहीं है। निश्चित ही तुम्हारा काम-धंधा चल निकलेगा।' हरिहर को बड़े भाई की सलाह पसंद आई और उसने ईंट को बेचना स्वीकार कर लिया।

अगले दिन दोनों भाई चांदी की सिल को झोले में डाल कर गांव से कुछ कोस दूर कोल्हापुर शहर की ओर रवाना हो गए। थोड़ी ही दूर गए थे कि गिरधर बोला—'हरिहर! धूप बहुत तेज है। जरा भाग कर घर से मेरा छाता तो ले आ। तब तक मैं उस कुएं के पास बैठ कर तुम्हारा इंतजार करता हूं।'

हरिहर को भला कैसे अंदाज लग सकता था कि बड़ा भाई उसे बेवकूफ बना रहा है! झोला गिरधर को थमा कर वह छाता लेने घर चला गया। जब लौट कर आया तो पुनः दोनों ने शहर का रास्ता पकड़ा।

कोल्हापुर पहुंचने पर सांझ हो चुकी थी। परंतु, उसी दिन उन्हें लौटना भी था, इसलिए समय न गंवाते हुए वे सीधे शहर के जाने-माने सर्राफ की दूकान पर जा पहुंचे। चांदी के कई जेवर पसंद करके जब उन्होंने चांदी की ईंट सर्राफ के सामने रखी तो उसे देखते ही वह बुरी तरह से बिगड़ उठा। सर्राफ की अनुभवी आंखों ने तुरंत भांप लिया कि ईंट चांदी की न होकर लोहे की है। चांदी की तो केवल उस पर परत ही चढ़ी है।

दोनों भाई एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। हरिहर को यह विश्वास ही नहीं हो रहा था कि बंबई के उस सेठ ने उसे ठग लिया है। सेठ ने उसकी ईमानदारी और कड़े परिश्रम से खुश होकर स्वयं ही चांदी की ईंट उसे इनाम के रूप में दी थी। फिर सेठ भला ऐसा धोखा क्योंकर देगा! लेकिन, अब क्या हो सकता था। मुंह लटकाए हुए वह गांव लौट आया। रास्ते-भर गिरधर उसके बुद्धूपने की हंसी उड़ाता रहा।

जब दोनों वापस गांव पहुंचे तो गिरधर ने अपने रहने के लिए पास ही एक अलग मकान ले लिया। कहने लगा—'ऐसे बेवकूफ भाई के साथ रहने में तो मुझे हमेशा घाटा ही रहेगा!'

वास्तव में असली चांदी की ईंट को गिरधर ने ही बदल कर वहीं कुएं के पास जमीन में गाड़ दी थी। बाद में जब उसने अलग रहना शुरू किया तो एक दिन चुपके से वह चांदी की ईंट निकाल लाया था।

हरिहर ने बहुतेरी कोशिश की कि वह भी आराम की जिंदगी बसर करे, लेकिन भाग्य ने हमेशा उसे धोखा ही दिया। वह जिस काम में भी हाथ डालता, नुकसान उठा कर घर बैठ जाता। और तो और आए-दिन उसके घर में चोरी भी होती रहती। कभी कपड़े गायब हो जाते और कभी बर्तन। कभी-कभी तो दाल-आटा और चावल जैसी खाने-पीने की वस्तुएं भी चोरी चली जातीं। इन चोरियों से वह अत्यंत परेशान हो उठा था, परंतु स्वभाव से सीधा और संतोषी होने के कारण ज्यादा छान-बीन न करके उलटा अपने भाग्य को ही कोसता हुआ चुप्पी साध लेता था। इसी तरह तीन वर्ष बीत गए। गिरधर दिन-प्रतिदिन अमीर होता जा रहा था और हरिहर अपनी लगातार बढ़ रही गरीबी के कारण शरीर से भी सूखता चला जा रहा था।

एक दिन हरिहर जंगल से घास छील कर, उसका गट्ठर सिर पर लादे घर लौट रहा था कि एक बूढ़ा फकीर उसके रास्ते में आकर खड़ा हो गया। फकीर कुछ परेशान-सा दिखाई पड़ रहा था। हरिहर के कंधे पर प्यार-भरा हाथ रख कर अत्यंत नम्र स्वर में बोला—'बेटा! मेरा घोड़ा तीन दिन से भूखा है। बिना कुछ खाए-पीए अब वह एक कदम भी चल नहीं सकता। हो सके तो यह घास का गट्ठर मुझे दे दो। इसे खाकर यह बेचारा बच जाएगा और तुम्हें बहुत 'असीसें' देगा। मेरे पास घास का दाम चुकाने के लिए पैसे नहीं हैं, वर्ना मैं तुम्हें यह कष्ट कदापि न देता।'

उसी घास को बेच कर हरिहर अपने लिए भोजन जुटाने वाला था, लेकिन घोड़े की हालत देख कर उसका हृदय पसीज उठा। उसने घास का गट्ठर फकीर को देते हुए कहा—'बाबा! आप यह घास ले जाकर अपने घोड़े को खिला दीजिए, मैं बहुत आसानी से एक-आध रोज भूखा रह कर काट लूंगा।'

फकीर प्रसन्न होते हुए बोला—'तुम तो सचमुच बहुत ही भले आदमी लगते हो! भगवान तुम्हारी दयालुता देख रहे हैं। वे अवश्य तुम्हारा घर दौलत से भर देंगे।'

हरिहर एक फीकी हंसी हंसा; फिर बोला—'ऐसा न कहो, बाबा! भगवान तो मुझ पर वैसे ही रुष्ट हैं। मैं सोना छूता हूं तो वह भी मिट्टी हो जाता है।'

फकीर ने अचरज के साथ पूछा—'ऐसा क्यों बेटा?' हरिहर ने बीते सालों की, एक-एक करके, सारी घटनाएं बयान कर दीं।

फकीर ने लंबी सांस छोड़ते हुए कहा—'ओह! तो यह बात है! लेकिन, तुम हिम्मत न हारो, बेटा! अब तुम्हारे दिन जरूर फिरेंगे। लो, यह जड़ी ले जाओ और इसे गोबर में सान कर एक हंडिया में भर देना। पंद्रह दिन बाद अपने घर की सारी वस्तुएं एक अंधेरी कोठरी में रख कर, उन्हीं पर इस हंडिया का गोबर उंडेल देना।

बस! तुम्हारे देखते ही देखते सारी चीजें अपने-आप सोने की हो जाएंगी। एक ही रात में तुम धन-कुबेर हो जाओगे।'

हरिहर आंखें फाड़ कर एकटक फकीर की ओर देखता रह गया। उसे फकीर की बात का विश्वास नहीं हो रहा था।

—'विश्वास नहीं हो रहा न? लेकिन, मैंने एकदम सच कहा है। मेरे कहने के अनुसार तुम इसे करके तो देखो! पंद्रह-बीस दिन बाद मैं फिर इस गांव में लौटूंगा। अगर मन चाहे तो आकर भेंट कर जाना।'

हरिहर ने जड़ी ले ली और तरह-तरह के विचारों में डूबता-उतराता घर की ओर चल पड़ा।

सांझ को गिरधर ने छोटे भाई को गोबर बटोर कर हंडिया में भरते देखा तो हैरान होकर पूछने लगा—'अरे हरिहर! यह तुम क्या कर रहे हो? भला गोबर भी कोई हंडिया में बटोरी जाने वाली वस्तु है?'

भोले-भाले हरिहर ने फकीर से हुई भेंट वाली सारी घटना भाई को बयान कर दी। फिर जेब से जड़ी निकाल कर दिखाते हुए बोला—'यही है वह सोना बनाने वाली जड़ी!'

—'विश्वास करने लायक बात तो नहीं है, हरिहर! लेकिन, फिर भी अगर फकीर की बात कहीं सच हो जाती है, तो सचमुच इसे जादू ही कहा जाएगा। ठीक है, अब तुम जल्दी से गोबर तैयार करो। पंद्रह दिन बाद मुझे भी दिखाना कि तुम्हारी कौन-कौन सी चीज सोने की बन गई है।'

—'मेरे पास है ही क्या, भाई! यही दो-चार टूटे-फूटे बर्तन और घास छीलने का यह खुरपा। तब भी, अगर ये सब वस्तुएं कहीं सोने की हो जाएं तो फिर कहना ही क्या है! मुझ गरीब के लिए यह सब भी बहुत होगा। कम से कम मेरा शेष जीवन तो आराम से कट जाएगा!' गिरधर चुपचाप उसकी बातें सुनता रहा, कुछ बोला नहीं। लगता था जैसे किसी गंभीर विचार में डूब गया हो!

पांचवें दिन जब हरिहर जंगल से घास लेकर लौटा तो हंडिया को अपनी जगह पर न पाकर परेशान हो उठा। उसने सारा घर छान मारा, परंतु हंडिया का कहीं नामो-निशान न था। हार कर जब गिरधर के घर जाकर उससे पूछा तो गिरधर ने टका-सा जवाब दे दिया—'मैं क्या तुम्हारे घर की रखवाली करने बैठा हूं! कोई अड़ोस-पड़ोस का लड़का हंडिया को खेलने के लिए उठा ले गया होगा और खेलते-खेलते कहीं जाकर फोड़ आया होगा।'

अभागा हरिहर इस बार भी अपना सिर पीट कर रह गया। अब उसे पूरी तरह से विश्वास हो गया था कि उसके भाग्य में बस घास छीलना ही बदा है। फिर तो उसने सुख की आशा ही छोड़ दी। रूखा-सूखा जो भी मिलता, उसी से पेट भर कर संतोष कर लेता।

पंद्रहवें रोज रात के समय चबूतरे पर लेटा हरिहर सोच रहा था—काश! अगर हंडिया चोरी न हुई होती तो आज उसे फोड़ कर फकीर बाबा की बात को परखता। जरूर उस जड़ी में सोना बनाने की शक्ति रही होगी, वरना फकीर बाबा को क्या पड़ी थी, जो मुझे जड़ी देता! शायद मेरी गरीबी देख कर उसे दया आ गई थी। देखने में तो अत्यंत साधारण फकीर लग रहा था, लेकिन कौन जाने, किसी अलौकिक शक्ति का स्वामी होने के कारण उसने उस जड़ी में सोना बनाने की खूबी पैदा कर दी हो! मगर अब यह सब सोचने का क्या फायदा! जब भगवान ही मुझ पर रूठे हैं तो फकीर बाबा भी क्या करेगा! इन्हीं विचारों में डूबा हरिहर करवटें बदलता रहा।

आधी रात के बाद, ठंडी हवा के झोकों में उसकी आंखें झपकी ही थीं कि एकाएक किसी के जोर-जोर से चिल्लाने की आवाज सुनाई पड़ी। वह हड़बड़ाकर उठ बैठा। आवाज कहीं करीब ही से आ रही थी—'हाय! हाय रे! हे भगवान, मुझे बचाओ! बचाओ!!'

अरे! यह तो मेरे भाई की आवाज जान पड़ती है। आधी रात के समय वह इस तरह चिल्ला क्यों रहा है? क्या किसी संकट में पड़ गया है? बिजली की-सी गति से हरिहर गिरधर के घर की ओर दौड़ पड़ा।

पास जाकर भाई की हालत देखी तो सन्न रह गया। सैकड़ों काले-काले बिच्छू डंक उठाए उसके इर्द-गिर्द फर्श पर रेंग रहे थे। उनके डंक से बचने के लिए वह चिल्लाता हुआ इधर से उधर उछल-कूद रहा था। कमरे से बाहर निकल भागने की चेष्टा में तीन-चार बिच्छुओं ने उसे डंक भी मार दिया लगता था, क्योंकि पीड़ा से कराह कर वह हाय-हाय करते हुए तड़प रहा था।

एकाएक कोने में पड़ी चांदी की ईंट पर नजर पड़ते ही हरिहर का माथा ठनका। ओह! तो यह बात है! पलभर में ही वह सारा भेद जान गया। फिर तो जमीन पर बिखरे बाप के रुपयों ने और उन्हीं के पास फूटी पड़ी हंडिया ने अपने-आप सारी कथा बयान कर दी। गोबर में से पैदा हुए वे बिच्छू डंक उठा कर उसके चारों ओर इस तरह घात लगाए घूम रहे थे जैसे भाई के भोलेपन का नाजायज फायदा उठाने वाले गिरधर की आज वह हत्या करके ही दम लेंगे।

यह सारा कांड देख कर हरिहर की आंखें खुली की खुली रह गईं। तो क्या मेरा सौतेला भाई गिरधर ही वह चोर है जिसके कारण मुझे इतने दिन लगातार परेशानी उठानी पड़ी! कम्बख्त ने एक दिन के लिए भी तो मुझे चैन से नहीं बैठने दिया! यह तो फकीर बाबा की ही कृपा का फल है कि आज सारा भेद अपने-आप प्रकट हो गया; नहीं तो इसने तो अब भी हंडिया चुरा कर मुझे पूरी तरह से बरबाद करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। अपनी सारी धन-संपदा को सोने में बदलने चला था न! अब मेरे साथ किए गए विश्वासघात का अच्छी तरह से मजा चख ले!

घोर घृणा के साथ उसकी निगाह गिरधर के चेहरे पर जाकर टिक गई। गिरधर का चेहरा एकदम सफेद पड़ गया था। चोरी के माल सहित रंगे-हाथों पकड़ा गया जान कर उसकी सारी चालाकी पल-भर में हवा हो गई थी। तभी एकाएक छलांग लगा कर वह दरवाजे से बाहर निकलने के लिए दौड़ा, लेकिन चार-पांच बिच्छुओं ने सामने से आकर उसका रास्ता रोक लिया। देखते ही देखते बिच्छू उसकी देह से चिपट गए और फिर तो डंक मार-मार कर उसे अधमरा-सा कर दिया। वह लाख चीखा-चिल्लाया, मगर वहां बचाने वाला कौन था!

कुछ ही देर के बाद गिरधर का शरीर काला पड़ने लगा। अपना अंतिम समय करीब आया जान कर उसने हरिहर को पास बुलाया और अत्यंत दबे स्वर में कहने लगा—'हरिहर... मेरे भाई... मैंने ही तुम्हारी सारी चीजें चुराई थीं। वे सारी वस्तुएं इसी कमरे में मौजूद हैं। उधर चांदी की ईंट रखी है और पास ही पिताजी के तमाम रुपये बिखरे पड़े हैं। आज मैं अपने किए की सजा भुगत रहा हूं। मरने से पहले तुम्हारी चीजों के साथ-साथ खुद की सारी संपत्ति भी तुम्हें सौंपे जा रहा हूं। हो सके तो मेरे अपराध को क्षमा कर देना और किसी सुशील और सुंदर लड़की से विवाह करके अपना घर बसा लेना। अच्छा! अलविदा...मेरे भाई...!'—तभी एक हिचकी-सी आई और वह सदा-सदा के लिए शांत हो गया।

ठीक तभी फकीर बाबा भी वहां पहुंच गया। हरिहर उसे देखते ही उसके कदमों पर लोट कर आंसू बहाने लगा। फकीर ने उसे उठा कर गले से लगाते हुए कहा—'हरिहर! तुम्हारी मुसीबत के दिन बीत गए। अब ये आंसू पोंछ डालो। खूब खाओ-पीओ और आनंद मनाओ। मगर हां, अपने खुशी के दिनों में भी दीन-दुखियों की मदद करने से कभी जी न चुराना। जिस सगे चोर ने तुझे तबाह करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी, वह अपनी मौत मर कर स्वयं ही तुम्हारे रास्ते से हट गया है। अब तुम्हें किसी का डर नहीं है।'

हरिहर ने फकीर बाबा को कुछ दिन अपने यहां ही ठहरने का आग्रह किया, ताकि उसका भरपूर आदर-सत्कार कर सके। परंतु, फकीर तो रमताराम था; वह हरिहर को आशीर्वाद देकर उसी समय गांव छोड़ कर चला गया।

हरिहर के दुख के दिन बीत गए, उसने चैन की सांस ली। ❖

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

THE KALYANI TEA CO. LTD.

MAKERS OF FINEST QUALITY OF
GREEN / ORTHODOX / CTC
TEAS

Head Office :
16, Bonfield Lane, KOLKATA 700001
Phone & Fax : (033) 2242-6141

Garden :
Kenduguri Tea Estate
P.O. RAJGARH, DISTT. DIBRUGARH, ASSAM
Phone : (03754) 276646 Fax : (03754) 276627

जैन भारती, जून, 2009
प्रेषण दिनांक 3 जून, 09

"Licensed to Post without Pre-Payment" Under Licence No. Tech./W.R./47-2/11/2009-2011 Valid till 31-12-2011

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

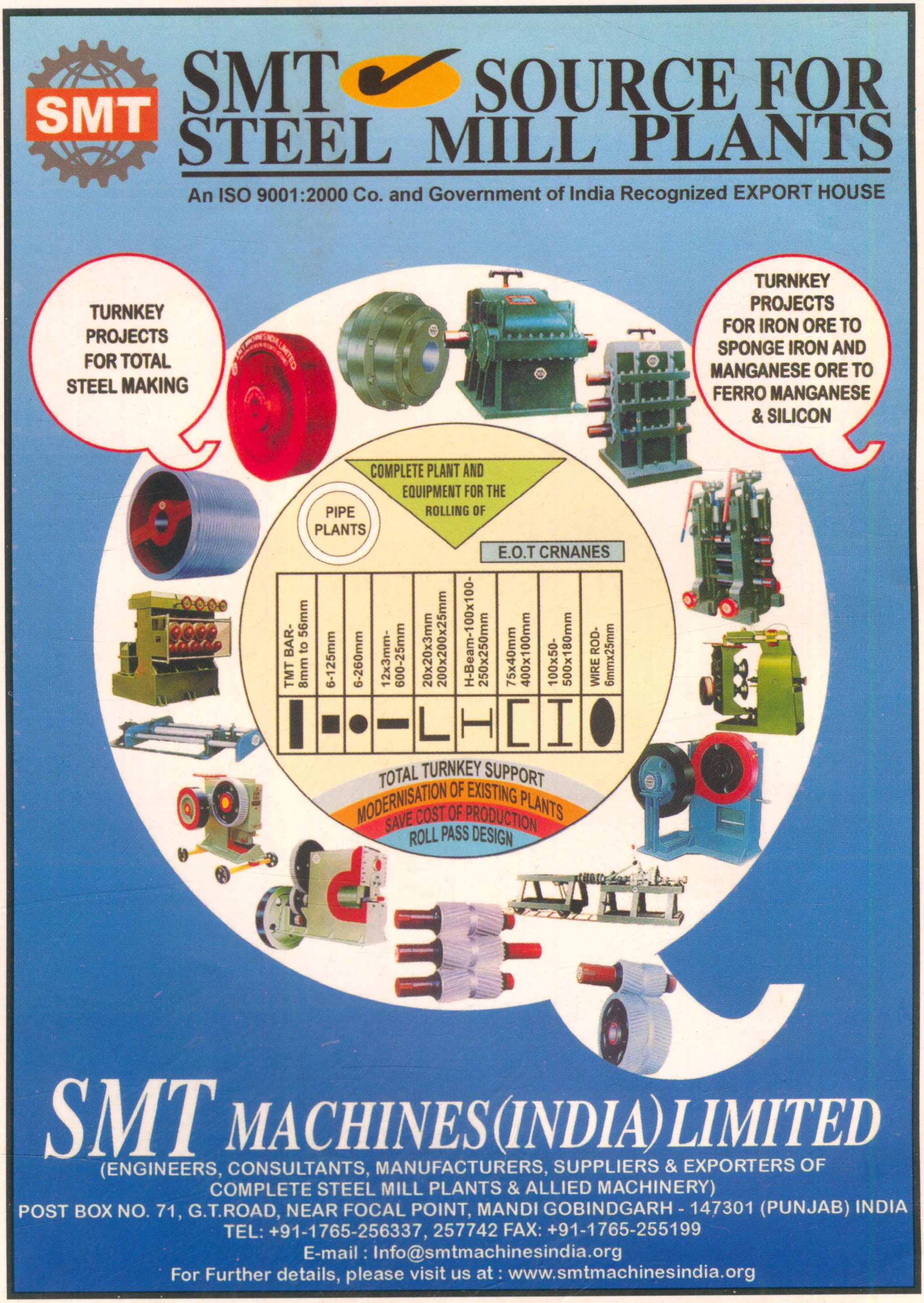

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।